श्रमण

४५] जुलाई सितम्बर १९९४ [अंक ७-९

सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान सम्पादक

प्रो. सागरमल जैन

सम्पादक

डा० अशोक कुमार सिंह

सहसम्प

डा० शिवप्र

वर्ष ४५ जुलाई-सितम्बर १९९४ अंक १

प्रस्तुत अंक में

१. कर्म की नैतिकता का आधार—तत्त्वार्थसूत्र के प्रसङ्ग में
—डॉ० रत्ना श्रीवास्तव १

२. रामचन्द्रसूरि और उनका साहित्य — डॉ० कृष्णपाल त्रिपाठी १०

३. प्राकृत की बृहत्कथा "वसुदेवहिण्डी" में वर्णित कृष्ण
—डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव २३

४. मडाहडागच्छ का इतिहास : एक अध्ययन —डॉ० शिवप्रसाद ३१

५. सन्दर्भ एवं भाषायी दृष्टि से आचारांग के उपोद्घात में प्रयुक्त प्रथम वाक्य के पाठ की प्राचीनता पर कुछ विचार — डॉ० के० आर० चन्द्र ५२

बारह भावना : एक अनुशीलन —डॉ० कमलेश कुमार जैन ५६

साहित्य समीक्षा ६२

जैन जगत् ७२

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक व संस्थान सहमत हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म की नैतिकता का आधार -- तत्त्वार्थसूत्र के प्रसंग में

- डॉ. रत्ना श्रीवास्तवा

दृश्यमान जगत में समस्त जीव जीवन पर्यन्त मनसा, वाचा, कर्मणा कर्म करते रहते हैं। इस विश्व की उत्पत्ति, कर्म द्वारा ही हुई है। जीवन का अपरनामकरण कर्म है, यही जीवन है, क्योंकि कर्म ही गति, चेष्टा एवं परिवर्तन है। मानव जीवन और कर्म का सम्बन्ध जन्म-जन्मांतर से है। उसका वर्तमान जीवन भी कर्म-श्रृंखला की एक कड़ी है। समस्त प्राणी जीवन-पर्यन्त अथ से इति तक कर्मानुशासित हैं। जहाँ जीवन है वहाँ कर्म से मुक्ति सम्भव नहीं है। मनुष्य का यह संकल्प या विचार कि उसने समस्त कर्मों का त्याग कर दिया है -- एक भ्रम है क्योंकि वस्तुतः कर्म त्याग भी एक कर्म ही है। जब तक हम शरीरयुक्त हैं, एक क्षण भी कर्मों से पृथक् नहीं हो सकते। कर्म हमारी नियति है, जिसके वशीभूत होकर ही हम इस संसार-चक्र में आवागमन से मुक्त नहीं हो पाते हैं, पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करते हैं।

विभिन्न विचारकों ने कर्म-विषयक भिन्न-भिन्न विचार अभिव्यक्त किये हैं। प्रश्न उठ सकता है कि आखिर उन विचारकों ने कर्म का वर्णन क्यों किया ? इसका इस जगत में क्या उपयोग है ? क्या महत्ता है ? जहाँ तक महत्ता की बात है, तो वह बहुत कुछ उपर्युक्त कथनों से निष्कर्ष निकाल कर समझा जा सकता है किन्तु उपयोग के विषय में सबसे बड़ा प्रमाण मिलता है -- कर्म का जन-मानस के ऊपर पड़ा प्रभाव। यद्यपि कर्म अदृश्य है और यही कारण है कि, वैज्ञानिकों ने इसके अस्तित्व को नकारा भी है, किन्तु यह एक कटु-सत्य है कि मानवजाति का कर्मों के प्रति एक अटूट विश्वास है अर्थात् सत्कर्म शुभ परिणामी एवं असत्कर्म अशुभ परिणामी होते हैं - ऐसा जन-विश्वास है। वर्तमान अराजकता, भ्रष्टाचार, अनैतिकता से व्याप्त युग में यदि कहीं अल्पमात्र भी नैतिकता अवशेष रह गई है तो उसके पीछे एक मात्र कारण है हमारी, हमारे कर्मों के प्रति यही आस्था। हमारे अन्तःकरण में यह बात पूर्णतः जमी हुई है कि यदि हम दुष्कर्म करेंगे तो उसके कुपरिणामों को भी भोगना पड़ेगा। आज प्रशासन भले ही विभिन्न दण्ड-सिद्धान्तों की सहायता लेकर अपराधियों को भयभीत करने या सुधारने का पूर्णतः प्रयास कर रहा है एवं सफल भी हो रहा है किन्तु कर्मफल के भयवश अपराध न करने वालों की संख्या अभी भी अधिक है। तात्पर्य यही है कि मानवजाति को कर्म-आस्था ही अनैतिकता से नैतिकता की ओर ले जा सकती है। यद्यपि विभिन्न विचारकों ने कर्म-विचारों की परस्पर आलोचनाएँ तो की ही हैं, किन्तु कर्म विचार की उपर्युक्त उपयोगिता व्यावहारिक दृष्टि से तो है ही, इस बात को नकारा नहीं जा सकता।

संस्कृत की 'डुकृञ्करणे' धातु से निष्पन्न कर्म शब्द का सामान्य अर्थ है -- कार्य या चेष्टा, जिसका प्रबल या दुर्बल कोई एक संस्कार मानव-चित्त पर पड़ता है। इन संस्कारों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुच्चय से ही मनुष्य की प्रत्येक प्रकार की हलचल या क्रियादि नियन्त्रित है। यहाँ तक कि मरना-जीना सब कर्म ही है।

कर्म शब्द के यूँ तो कई अर्थ होते हैं किन्तु सामान्य रूप में कर्म का तात्पर्य क्रिया ही है। वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में क्रिया के अर्थों में ही "कर्म" शब्द का प्रयोग देखा जाता है। मीमांसक स्वर्गादि फल प्राप्ति हेतु यज्ञ-यागादि क्रियाओं को ही कर्म की संज्ञा देते हैं। नैयायिक ऊपर एवं नीचे फेंकना, समेटना, फैलाना और चलना इन पाँच दैहिक क्रियाओं को कर्म कहते हैं। वैशेषिकों के अनुसार, जो एक द्रव्य में समवाय से रहता है जिसमें कोई गुण न हो और जो संयोग या विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न करे, वही कर्म है। पुनः सांख्य दर्शन में कर्म शब्द का प्रयोग संस्कार के अर्थ में मिलता है। बौद्धदर्शन में चेतना को ही कर्म माना गया है।

हमारे मन, वाणी और शरीर द्वारा जो भी क्रिया होती है उन सबको कर्म की संज्ञा दी जाती है। शास्त्रकारों ने उपर्युक्त तीनों का नामकरण योग कहकर किया है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी इसी के अनुरूप "कायवाङ्मनःकर्मयोगः" (तत्त्वार्थसूत्र, 6/1) कहा है अर्थात् काय, वचन एवं मन की क्रिया योग है। योग को उन्होंने कर्म के अन्तर्गत रखा है। निःसन्देह जैन कर्मसिद्धान्त अन्य सभी विचारधाराओं में वर्णित कर्म सम्बन्धी विचारों से अधिक व्यवस्थित, वैज्ञानिक एवं व्यापक है। जैनों के अतिरिक्त सभी ने कर्म को क्रियाओं तक ही सीमित रखा है, किन्तु जैन विचारकों ने कर्म के अन्तर्गत क्रिया एवं क्रिया के हेतुओं को भी समाविष्ट किया है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए पं. सुखलाल जी ने कहा है -- "मिथ्यात्व कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही कर्म कहलाता है।"

कर्म का स्वरूप, प्रकार एवं अवस्थाओं का संक्षिप्त परिचय

जैन विचारकों ने कर्म के विषय में "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः" (तत्त्वार्थसूत्र, 8/2) में कहा है अर्थात् कर्म को ही जीव के बन्धन का हेतु माना गया है। सांख्य दर्शन में जो स्थान प्रकृति का, वेदान्त में माया का, बौद्ध में अविद्या का, शैव सिद्धान्त में पाश का, वैशेषिक में अदृष्ट का है, वही स्थान जैन दर्शन में कर्म का है।

वर्गीकरण -- भारतीय विचारकों ने कर्म विषयक वर्गीकरण को विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है जैसे - कर्म को साधन की दृष्टि से मानसिक, वाचिक एवं कायिक; धर्मशास्त्र की दृष्टि से सात्विक, राजसिक, तामसिक; हेतु की दृष्टि से नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य; नैतिकता की दृष्टि से कर्म, विकर्म, अकर्म; वेदान्तिक दृष्टि से, प्रारब्ध, संचित तथा क्रियमाण -- रूप में विभाजित करके उसका पृथक्-पृथक् स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। जैनदर्शन में भी कर्मों का विभाजन हुआ है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने दो प्रकार के कर्मों की चर्चा की है -- द्रव्यकर्म एवं भावकर्म। द्रव्यकर्म आत्मप्रकाश को प्रकाशित होने से रोकता है। आत्मा के मूलभूत गुणों को अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त सुख को आवरित या तिरोहित करता है। इसी के कारण आत्मशक्ति कुण्ठित हो जाती है, वह पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं हो पाती है। केवल इतना ही नहीं कर्म के उपर्युक्त निषेधात्मक पक्ष के अतिरिक्त उसका एक विधेयात्मक पक्ष भी है, जो आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ही विभावावस्था है। द्रव्य कर्मों के कारण ही (भावकर्म) कषायों की भी उत्पत्ति होती है। आत्मा अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप या साक्षी भाव को भूलकर अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानने लगता है। इन्हीं की चर्चा तत्त्वार्थसूत्र में सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः (तत्त्वार्थसूत्र, 6/5) के रूप में है अर्थात् कर्म के दो पक्ष हैं, साम्परायिक एवं ईर्यापथिक। जो कर्म कषाययुक्त हैं वे साम्परायिक एवं जो कषायरहित हैं वे ईर्यापथिक हैं। आत्मा का पराभव करने वाला कर्म साम्परायिक कहलाता है, जैसे गीले चमड़े के ऊपर हवा द्वारा पड़ी हुई रज उससे चिपक जाती है, वैसे ही योग द्वारा आकृष्ट होने वाला कर्म कषायोदय के कारण आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर बन्ध स्थिति पा लेता है वह साम्परायिक कर्म है। सूखी दीवाल के ऊपर लगे हुए सूखे गोले की तरह योग से आकृष्ट जो कर्म कषायोदय न होने से आत्मा के साथ लगकर तुरन्त ही छूट जाता है वह ईर्यापथिककर्म कहलाता है।

जैनदर्शन में आठ प्रकार के कर्मों की चर्चा की गई है -- 1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयुष्य, 6. नाम, 7. गोत्र, और 8. अन्तराय। इन अष्टकर्मों में आत्मा के स्वभाव के आवरण की दृष्टि से चार घाती एवं चार अघाती कर्म माने गये हैं। चूँकि चार घाती कर्म आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि स्वभाव को आवरित करते हैं, आत्मा की स्वाभाविक दशा को विकृत करते हैं एवं जीवन मुक्ति में बाधक होते हैं। इस कारण इन्हें घाती अर्थात् घात करने वाला बताया गया है। इन्हें भाव कर्म के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसके विपरीत अघातीकर्म हैं, जो न तो आत्मा की स्वाभाविक दशा को विकृत करते हैं और न ही भावी बन्धन के कारण होते हैं।

कर्म की दस अवस्थाओं का भी उल्लेख मिलता है -- 1. बन्ध, 2. संक्रमण, 3. उत्कर्षण, 4. अपवर्तन, 5. सत्ता, 6. उदय, 7. उदीरणा, 8. उपशमन, 9. निधत्ति और 10. निकाचना।

कर्मविपाक एवं फलभोग की चर्चा

कर्म के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के पश्चात् अब हम उस सामान्य मानवजिज्ञासा की ओर बढ़ेंगे जो प्रायः उलझ कर ही रह जाती है। वह सहज जिज्ञासा यह है कि हम जो भी कर्म करते हैं क्या उन सभी का एक नियत समय पश्चात् या अनियत रूप से विपाक होता है ? तथा उस विपाक के पश्चात् सभी कर्म हमें एक निश्चित समय से फलोपभोग भी कराते हैं ? क्या सभी मनुष्य स्वकृत कर्मों का फलोपभोग अवश्य ही करते हैं, इस जन्म में या अगले जन्म में? क्या कर्मों के फलों का संविभाग होता है ? या नहीं आदि।

मानव जो भी कर्म करता है चाहे वो नैतिक हो या अनैतिक, कल्याणप्रद हो या दुःखद, शुभ हो या अशुभ, कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता है ऐसा नीतिशास्त्रियों की मान्यता है। इस विचार के अनुसार हमें तो यही निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है कि हमारे द्वारा जो भी कर्म किया जाता है वह पहले तो संचित हो जाता है, फिर बाद में कर्मों का विपाक काल आने पर उससे शुभ या अशुभ परिणाम निकलता है। भारतीय नीति विचारकों में से कुछ ने तो यह माना है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी कर्मों का नियत समय पर विपाक होता है और उसका फल हमें अवश्य ही भोगना पड़ता है। कुछ अनियत विपाक को महत्त्व देते हैं वे कहते हैं सभी कर्मों का फल भोग आवश्यक नहीं है किन्तु जैन विचारणा कर्म विपाक की नियतता एवं अनियतता दोनों को ही स्वीकार करती है और यह बतलाती है कि कर्मों के पीछे रही हुई कषायों की तीव्रता एवं अल्पता के आधार पर ही क्रमशः नियत या अनियत विपाकी कर्मों का बन्ध होता है। कर्मों की विभिन्न अवस्थाएँ संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा एवं उपशमन कर्मों के अनियत विपाक की ओर संकेत करती हैं और स्पष्ट रूप से यह बताती हैं कि व्यक्ति पूर्व में किये गये सभी कर्मों के फलों को नियत रूप से भोग करने के लिए बाध्य नहीं है। हमने जो कर्म किया है, जिसे हमने बोया है उसे चाहें तो दूसरे ही क्षण उखाड़ कर फेंक सकते हैं। हम कर्मों के फलों में संक्रमण (परिवर्तन) कर सकते हैं, उसे कम या अधिक कर सकते हैं अथवा यदि चाहें तो विशिष्ट साधना द्वारा पूर्व में बँधे हुए कर्म की फल देने की शक्ति को समाप्त कर सकते हैं। किन्तु जैन विचारणा यह भी मानती है कि जिन कर्मों का बन्ध तीव्र कषाय भावों के फलस्वरूप होता है वे नियत विपाकी होते है।

कर्म फलभोग की चर्चा

कर्म फल के विषय में 'योग वासिष्ठ' में यह वर्णित है --

न स शैलो नतद्व्योम न सोऽब्धिश्चन विष्टपम्।
अस्ति यत्रफलं नास्ति कृतानामात्म कर्मणाम् (योगवासिष्ठ)

अर्थात् ऐसा कोई पर्वत नहीं है, ऐसा कोई आकाश नहीं, ऐसा कोई समुद्र नहीं, ऐसा कोई स्वर्ग नहीं है जहाँ कि अपने किये हुए कर्मों का फल न मिलता हो। यह कहा जाता है और अनुभव में भी आता है कि मन का स्पन्दन ही कर्म रूपी वृक्ष का बीज है और तरह-तरह के फलवाली विविध क्रियायें उसकी शाखाएँ हैं...। अन्य नीति विचारकों ने भी कर्मों को फलयुक्त ही माना है। तत्त्वार्थसूत्रकार के विचार भी उपर्युक्त के समान ही हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी कर्मों को फलयुक्त माना है। कर्त्ता को अपने कर्मानुसार फलोपभोग करना ही पड़ता है।

इस बात का निश्चय हो जाने पर कि जो भी कर्म कृत हैं, वे फलदायक हैं एवं कर्म का कर्त्ता उसका फलभोक्ता है, हमें अपने उन कर्मों के प्रति सचेत हो जाना चाहिए जो कि अभी हमारे द्वारा कृत नहीं हैं किन्तु जो भविष्य में कृत होंगे। क्योंकि हमें यह विदित हो गया है कि हम जैसे कर्म करेंगे-- शुभ या अशुभ, अच्छा या बुरा, नैतिक या अनैतिक ठीक उसी के अनुरूप हम फलभोग करने को भी बाध्य होंगे। अतः हमें कर्मों को करने के पूर्व सोच-विचार कर लेना चाहिए ताकि उसका परिणाम सुखद, कल्याणकारी, नैतिक एवं बन्धनरहित हो, किन्तु इस बात के लिए हमें यह ज्ञात होना आवश्यक है कि कौन-कौन से कर्म नैतिक या अनैतिक, शुभ या अशुभ, अच्छे या बुरे हैं ? किस आधार पर हम कर्मों को नैतिक-अनैतिक आदि कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने "शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य" ऐसा माना है। कर्म की नैतिकता-अनैतिकता के आधार के विषय में कोई विशिष्ट चर्चा हो, इसके पूर्व हमें संक्षिप्त रूप में यह जान लेना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक है कि हम किन-किन आधारों पर किसी कर्म को नैतिक-अनैतिक मानते हैं।

वैसे नीति विचारकों की इस विषय में दो दृष्टियाँ हैं -- प्रथम दृष्टि के अनुसार किसी भी कर्म को नैतिक या अनैतिक मानने का आधार कर्त्ता का विशिष्ट उद्देश्य, प्रयोजन या हेतु है। इसमें चूँकि कर्त्ता के मनोभावों के आधार पर कर्म की नैतिकता-अनैतिकता का निर्णय किया जाता है इसलिए हम इस आधार को कर्म के मानसिक पक्ष की संज्ञा दे सकते हैं क्योंकि किसी भी कर्म के नैतिक-अनैतिक होने में कर्त्ता की भावनाओं को ही यहाँ आधार रूप में माना गया है।

द्वितीय दृष्टि के अनुसार किसी कर्म को नैतिक-अनैतिक मानने का आधार जगत में दृश्यमान कर्म परिणाम है अर्थात् किसी कर्म के अच्छे-बुरे परिणाम को देखकर उसे नैतिक या अनैतिक कहा जाता है। प्रथम दृष्टि को नैतिकता के आधार का मानसिक या आन्तरिक पक्ष एवं द्वितीय दृष्टि को बाह्य या भौतिक पक्ष कहा जा सकता है। वस्तुतः नीति विचारकों के मध्य यह एक विवाद का ही विषय बना हुआ है कि हम कर्म की नैतिकता, अनैतिकता का आधार किसे बनाएँ? कर्त्ता के प्रयोजन को ? या कृत कर्मों के परिणाम को ?

जैन विचारक इस विवाद को अपनी अनेकान्तवादी दृष्टि के आधार पर सुलझा देते हैं। उन्होंने प्रयोजन एवं परिणाम दोनों को ही कर्म की नैतिकता का आधार बनाया है, किन्तु उन्होंने प्रधानता कर्त्ता के प्रयोजन को ही दी है। कर्त्ता शुभ-भाव से प्रेरित होकर जो कर्म करेगा वह नैतिक होगा भले ही उसका फल या परिणाम कुछ भी हो। यह दृष्टिकोण जैन विचारणा में यत्र-तत्र उपलब्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है -- अध्यवसाय अर्थात् मानसिक हेतु ही बन्धन का कारण है चाहे बाह्य रूप में हिंसा हुई हो या न हुई हो। जैन आचार दर्शन कार्य के परिणाम या फल से व्यतिरिक्त उसके हेतु की शुद्धता पर ही बल देता है। उसके अनुसार यदि कार्य किसी शुद्ध प्रयोजन से किया गया है तो वह शुभ ही होगा चाहे उससे किसी दूसरे को दुःख ही क्यों न पहुँचा हो और यदि अशुभ प्रयोजन से किया गया है तो अशुभ ही होगा चाहे परिणाम के रूप में उससे दूसरों को सुख ही हुआ हो।

तत्त्वार्थसूत्रानुसार कर्म की नैतिकता का आधार

उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्रान्तर्गत कहा है -- (शुभः पुण्यस्य, 6/3; अशुभः पापस्य, 6/4) शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ एवं अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है। हिंसा, चोरी, अब्रह्म आदि कायिक व्यापार अशुभ काय योग एवं दया, दान, ब्रह्मचर्यपालन आदि शुभ काय योग है। असत्य किन्तु सावद्य-भाषण, मिथ्याभाषण, कठोर भाषा आदि अशुभ वाक् योग है एवं निरवद्य भाषण, सत्य भाषण आदि शुभ वाग्योग है। दूसरों की बुराई का तथा उनके वध आदि का चिन्तन करना अशुभ मनोयोग एवं दूसरों की भलाई का चिन्तन आदि करना तथा उनके उत्कर्ष से प्रसन्न होना शुभ मनोयोग है। संक्लेश कषाय की मन्दता के समय होने वाला योग शुभ और संक्लेश की तीव्रता के समय होने वाला योग अशुभ है।

कर्म नैतिक तभी होगा जब उसे संक्लेशरहित होकर किया जाय। मानव कभी भी जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते हुए कर्मों से विमुख नहीं हो सकता, कर्म तो होते ही रहेंगे। किसी भी दशा में उनसे विरत नहीं हुआ जा सकता। अतः उन कर्मों को न छोड़ना है न बदलना है, किन्तु केवल धारणा को परिवर्तित करना है। अच्छी धारणा में ही कर्म की नैतिकता एवं बुरी धारणा में अनैतिकता अन्तर्निहित है। संक्लेशरहित या निष्कामभाव से किये गये कर्म ही नैतिक होते हैं, क्योंकि निष्कामभाव से जो कर्म किया जाता है, वह जान-बूझकर किसी पाप दृष्टि से नहीं किया जाता परन्तु यदि कहीं भूल, अज्ञान या भ्रमवश कोई पाप हो जाता है तो वह उसे बन्धनकारी नहीं होता है क्योंकि उस कर्म में उसका कोई स्वार्थ नहीं होता है। निष्काम कर्म का आचरण करने वाले पुरुष की स्थिति आसक्त पुरुष से अत्यन्त विलक्षण होती है। उसके मन में किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं होती, वह जो कुछ भी कर्म करता है वह सब फल की इच्छा को छोड़कर आसक्तिरहित होकर करता है। तत्त्वार्थकार की दृष्टि में किसी भी कर्म की नैतिकता, अनैतिकता कर्त्ता के चैतसिक पक्ष या मानसिक भावों पर ही निर्भर है। कर्त्ता द्वारा कृत कर्मों का जो बाह्य स्वरूप हमें परिलक्षित होता है (परिणाम के रूप) वह तत्त्वार्थकार की दृष्टि में कर्मों की नैतिकता-अनैतिकता का मापदण्ड नहीं है, आधार नहीं है अपितु जो कुछ भी है वह है कर्त्ता का प्रयोजन, हेतु और उसकी मनोभावना। निस्पृह भाव से, निष्कामभाव से वासनारहित होकर जो कर्म किया जाता है वही नैतिक, शुभ, पुण्यकारी कर्म है तथा इसके विपरीत अनैतिक, अशुभ एवं पापकारी कर्म है। जैसे कोई दयालु वैद्य चीर-फाड़ द्वारा किसी रोगी को दुःख देने का निमित्त बनने पर भी करुणावृत्ति से प्रेरित होने से पापभागी नहीं होता।

तत्त्वार्थकार का उपर्युक्त कथन कर्त्ता की भावना को लेकर ही किया गया है। कुछ ऐसे ही विचार अन्य जैन विचारकों के भी हैं -- "रागादि (भावों) से मुक्त व्यक्ति के द्वारा आचरण करते हुए यदि हिंसा (प्राणघात) हो जाय तो वह हिंसा नहीं है" -- आचार्य अमृतचन्द्र । "साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा। इससे वे काम को छोड़ देते हैं पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टे यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है "आसक्ति छोड़कर जो कार्य किया जाता है वह बन्धनकारक नहीं होता" -- सुखलाल संघवी।

अब प्रश्न यह है कि, कर्म की जो नैतिकता है उसका आधार सापेक्ष है या निरपेक्ष ? जब से नीति विचारकों ने कर्म विषयक स्वरूप, प्रकारादि की भिन्न-भिन्न रूपों में चर्चा की है तभी से उसके नैतिक मानदण्ड और नैतिक मूल्याँकन को लेकर उनके मध्य पारस्परिक विवाद चलता रहा है। क्योंकि कुछ विचारक तो इसके आधार को निरपेक्ष रूप में तो कुछ ने सापेक्ष रूप में मान्यता दी है। जहाँ तक निरपेक्षवादी पक्ष की बात है उनकी यह मान्यता है कि कर्म की नैतिकता का आधार निरपेक्ष है अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति, देश, काल आदि में नैतिकता का आधार परिवर्तित नहीं होता है एक ही समान रहते हैं। निरपेक्ष नैतिकता देशकालगत अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तिगत परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होती है।

इनके ठीक विपरीत कर्म की नैतिकता सापेक्ष है-- यह विचार है क्योंकि इस पक्ष के अनुसार किसी कर्म की नैतिकता, देशकाल, व्यक्ति और परिस्थिति के परिवर्तित होने से परिवर्तित हो सकती है अर्थात् जो कर्म एक देश-काल परिस्थिति में नैतिक माना जाता था वही दूसरे युग में अनैतिक माना जा सकता है। इसी प्रकार जो आचार किसी युग में नैतिक माना जाता था वही दूसरे युग में अनैतिक माना जा सकता है तथा जो कर्म एक व्यक्ति के लिए एक परिस्थिति में नैतिक हो सकता है वही दूसरी परिस्थिति में अनैतिक हो सकता है। देश-काल एवं व्यक्तित्व तथा समाज की परिस्थिति उन्हें प्रभावित करती हैं। सापेक्षवादी विचारकों के मतानुसार परिस्थिति निरपेक्ष कर्म नैतिक मूल्यांकन का विषय नहीं है। वास्तव में कर्म की नैतिकता का मूल्यांकन उसी परिस्थिति के आधार पर किया जाता है जिसमें वह सम्पन्न होता है तथा परिस्थिति के परिवर्तित होते ही कर्म का नैतिक मूल्य भी बदल सकता है।

तत्त्वार्थसूत्रान्तर्गत छठें अध्याय में (पृ.159) वर्णित वेदनीय (साता-असाता) कर्मों के अध्ययन से हमें यह अभिज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार कर्म की नैतिकता के आधार को निरपेक्ष नहीं अपितु सापेक्ष मानते हैं। इस बात की पुष्टि निम्नलिखित उद्धरणों द्वारा होती है -- "यह तो सर्वविदित है कि एक को जिन प्रसंगों में दुःख होता है उसी प्रसंग में दूसरों को भी दुःख हो यह आवश्यक नहीं... । जैसे नियमव्रतादि का पालन करना तपस्वी के लिए कष्टदायक होते हुए भी सुखकर होता है किन्तु उन्हीं नियमव्रतादि से सामान्य मनुष्य को कष्ट होता है। दूसरे, जिस प्रकार कोई दयालु वैद्य चीर-फाड़ के द्वारा किसी को दुःख देने का निमित्त बनने पर भी करुणावृत्ति से प्रेरित होने के कारण पापभागी नहीं होता, वैसे ही सांसारिक दुःख दूर करने के लिए उसके ही उपायों को प्रसन्नतापूर्वक करता हुआ त्यागी भी सद्वृत्ति के कारण पाप का बन्ध नहीं करता"... । (तत्त्वार्थसूत्र, पं. सुखलाल संघवी, पृ. 159)

अब प्रश्न उठता है कि कर्म की नैतिकता का आधार कैसा होना चाहिए ? निरपेक्ष या सापेक्ष ? वस्तुतः यह एक बड़ी गम्भीर समस्या है कि हम कर्म की नैतिकता के आधार को कैसा मानें, यदि हम किसी कर्म की नैतिकता के आधार को निरपेक्ष मानते हैं तो, हम जिस कर्म को एक परिस्थिति, समय में नैतिक, शुभ, अच्छा मानते हैं वही कर्म दूसरी परिस्थिति, समय में, अनैतिक, अशुभ एवं बुरा हो जाता है। उदाहरणार्थ --- "सती प्रथा को एक समय में नैतिक एवं अच्छा माना जाता था, किन्तु उसी प्रथा को अब अनैतिक एवं बुरा समझा जाता है। अतः हम नैतिकता के आधार को निरपेक्ष नहीं मान सकते।

पुनः नैतिकता के आधार को सापेक्ष मानने पर भी समस्या का अन्त नहीं हो पाता है क्योंकि परिस्थिति, देश-काल आदि सापेक्ष होने से किसी कर्म की नैतिकता के आधार के विषय में कोई एक सुनिश्चित मत नहीं रहता है अर्थात् हम किसी भी कर्म को निश्चित रूप से नैतिक या अनैतिक नहीं कह पाते हैं क्योंकि परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ एक ही कर्म नैतिक या अनैतिक होता रहता है। इस विचारधारा के अन्तर्गत और भी मुश्किल है क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरपेक्षवादी विचारधारा में कम से कम किसी कर्म की नैतिकता-अनैतिकता निश्चित तो रहती है किन्तु इसमें तो वह भी नहीं है। वस्तुतः इसमें हम यह कथन कर पाने में असमर्थ हैं कि अमुक कर्म सार्वभौमिक रूप से नैतिक है और अमुक कर्म अनैतिक।

कर्म की नैतिकता-अनैतिकता के आधार की अनिश्चितता के कारण हम यह निर्णय कर पाने में असमर्थ हैं कि जो कर्म मेरे या अन्य के द्वारा किया जा रहा है वह नैतिक है या अनैतिक। पुनः यदि हम कोई एक निश्चित आधार मान भी लें तो हमारे द्वारा जो कर्म विषयक निर्णय दिया जायेगा उसमें दो पक्ष तो अनिवार्यतः विद्यमान ही होंगे कर्त्ता का प्रयोजन एवं कर्म का परिणाम। जब हम अन्य व्यक्ति के कर्मों की नैतिकता-अनैतिकता का निर्णय करते हैं तो हम केवल किए गये कर्मों के परिणामों से ही अवगत हो पाते हैं, किन्तु उस कर्म के पीछे कर्त्ता का प्रयोजन क्या था, हम नहीं जान पाते हैं। वस्तुतः यह एक कठिन समस्या है, क्योंकि किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी कर्त्ता के विषय में यह पता लगा पाना मुश्किल है कि उसका कर्म के पीछे क्या प्रयोजन था ? और साथ ही यह जानना भी मुश्किल है कि किसी कर्त्ता ने यदि कोई कर्म किया है तो उस कर्म के परिणाम का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति को दुर्घटना में चोट लग जाती है, तो डॉक्टर यदि उसकी टाँग काट देता है क्योंकि वह सोचता है कि ऐसा करने से ही रोगी जीवित रह सकता है, तो यहाँ इस प्रसंग में यह कह पाना कठिन है कि रोगी को अपनी टाँग डॉक्टर से कटवाना नैतिक या अच्छा लगा कि नहीं क्योंकि हो सकता है कि उसे टाँग गँवाना अच्छा न लगता हो। हम अपने कर्मों के विषय में तो निर्णय दे सकते हैं किन्तु अन्यों के विषय में दिये गये नैतिक निर्णय सर्वदा अपूर्ण होंगे। वास्तव में हम सभी की ज्ञान की एक सीमा है उससे परे जा पाना कठिन है।

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न हमारे मन को उद्वेलित कर रहा है कि हमारे जीवन का क्या उद्देश्य है ? वास्तव में नैतिक कर्मों को जीवन में उतारने से हमारे जीवन को क्या लाभ मिल सकता है ? इसके पालन के पीछे क्या उद्देश्य है..? नैतिक कर्मों से जीवन प्रणाली का निर्माण होता है और यदि प्रत्येक मानव का जीवन इसी प्रकार हो जाय तो एक सुव्यवस्थित एवं विकसित मानव समाज की स्थापना हो जाए, जो कि सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए हितकर होगा। वस्तुतः नैतिक कर्म प्रत्येक प्राणी को दुष्कर्मों में प्रवृत्त करने से रोकता है और सदाचार, परोपकार, शांति और सह-अस्तित्व की ओर प्रेरित करता है। यह "जिओ और जीने दो" का उत्तम मार्ग दिखाता है। वस्तुतः नैतिक कर्मों का लक्ष्य एक ऐसे समत्व की संस्थापना करना है जिससे आन्तरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष, आन्तरिक इच्छाओं और उनकी पूर्ति के बाह्य प्रयासों का संघर्ष और बाह्य समाजगत एवं राष्ट्रगत संघर्ष जो स्वयं व्यक्ति के द्वारा प्रसूत नहीं होते हुए भी उसे प्रभावित करते हैं, समाप्त हो जायँ।

नैतिक कर्म द्वारा ही राष्ट्र का उत्थान सम्भव है। हमारा सामाजिक जीवन, चिन्तन संघर्ष तथा अनवरत कर्मों द्वारा अपने परिवार, समाज एवं देश की सेवा करने का सोपान है। मानव जीवन ही नहीं सम्पूर्ण राष्ट्र एवं विश्व, यहाँ तक कि मानवता भी वैरागियों से नहीं, अपितु कर्मयोगियों से जीवित है। आज की सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, विज्ञान आदि जिन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन को आधुनिक, आरामदायक या सुख-सम्पन्न बनाया है उन महान ऋषियों, मुनियों, कलाकारों, साहित्यकारों एवं वैज्ञानिकों की देन है जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन मानव सेवार्थ निष्काम भाव से खपा दिया।

किन्तु आज संसार में जितने भी कर्म हो रहे हैं वे सभी प्रायः निजी स्वार्थपूर्ति हेतु ही हो रहे हैं। संकीर्ण दायरे में, परिवार, समाज या राष्ट्रीयता की परिधि के अन्दर ही कर्म होने के कारण कर्म न तो निष्काम हो पाता है और न ज्ञान का, आनन्द का, शान्ति का ही विस्तार कर पाता है। फलस्वरूप किसी व्यक्ति में शान्ति नहीं है, किसी भी राष्ट्र में शान्ति नहीं है। सर्वत्र हिंसा, अशांति, द्वेष, भ्रष्टाचार आदि व्याप्त है। आज पूरा विश्व विभीषिकाओं, त्रासों एवं कोलाहल का भयानक अरण्य हो गया है। ऐसी चिन्त्य, कष्टमय एवं अव्यवस्थित स्थिति में यदि विचारशील व्यक्ति निष्काम कर्मयोग को अपना सके, अपना नियत कर्म अथवा निर्धारित कर्म निःस्वार्थ भाव से करने लगे, ऐसा समझने लगे कि यह शरीर या जो कुछ हमें संसार में प्राप्त है वह संसार के कल्याणार्थ ही अर्पित करना है, तो निश्चय ही विश्व में शान्ति का अवतरण हो सकेगा।

* बैजनाथ भवन, 57, जवाहर नगर कालोनी, वाराणसी (उ.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामचन्द्रसूरि और उनका साहित्य

- डॉ. कृष्णपाल त्रिपाठी

महाकवि रामचन्द्रसूरि जैन संस्कृत वाङ्मय के बहुप्रशंसित साहित्यकार हैं। साहित्य, व्याकरण और न्याय सदृश गम्भीर विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों का प्रणयन कर उन्होंने सुरभारती का जो सुन्दर शृंगार किया, वह सर्वतोभावेन श्लाघ्य है। यद्यपि उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं पर साधिकार लेखनी चलायी फिर भी एक रूपककार एवं नाट्याचार्य के रूप में ही उनकी विशेष ख्याति है। उनकी रचनाओं में उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिकता के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध हैं परन्तु उनमें कवि के जीवन-वृत्त एवं रचनाओं के विषय में विस्तृत सूचना प्रदान करने वाली सामग्री का अभाव है। फिर भी अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों से जो जानकारी प्राप्त होती है, उसी के आधार पर रामचन्द्रसूरि के जीवन एवं रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

जीवन-वृत्त

(क) **स्थान** -- रामचन्द्रसूरि के जन्मस्थान के विषय में कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। स्वयं कवि और अन्य साहित्यकारों ने भी इस विषय में कोई उल्लेख नहीं किया। आधुनिक विद्वानों का अनुमान है कि रामचन्द्रसूरि का जन्म गुजरात में अणहिल्लपुर पाटन के समीप हुआ था।[1] यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो यह अनुमान सत्य के अत्यन्त सन्निकट प्रतीत होता है। रामचन्द्र के गुरु आचार्य हेमचन्द्र भी गुजरात में ही जन्मे और दीर्घकाल तक उसी प्रदेश में बिराजमान रहे। सम्भवतः रामचन्द्र का जन्म भी गुजरात में ही हुआ था, तभी तो उन्हें आसानी से हेमचन्द्राचार्य का सन्निध्य प्राप्त हुआ। दूसरी ओर गुजरात के चौलुक्य नरेशों के साथ भी उनके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। अतः रामचन्द्र की कर्मभूमि भी गुजरात ही थी।

(ख) **शिक्षा-दीक्षा** -- अन्तः एवं बाह्य दोनों साक्ष्यों से स्पष्ट है कि रामचन्द्रसूरि गुजरात के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य कलिकालसर्वज्ञ श्रीमदाचार्य हेमचन्द्रसूरि के शिष्य थे।[2] हेमचन्द्र अपने युग के महान् धर्माचार्य एवं साहित्यकार थे। अतः वे ही रामचन्द्र के दीक्षा-गुरु के साथ-साथ शिक्षा-गुरु भी थे। पुरातनप्रबन्धसंग्रह से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्रसूरि ने रामचन्द्र को सुशिष्य समझ कर उन्हें विशेष विद्या एवं मान दिया था।[3] रामचन्द्र अत्यन्त जिज्ञासु, गुणग्राही एवं असामान्य प्रतिभासम्पन्न शिष्य थे। उन्होंने शीघ्र ही शब्द (व्याकरण), प्रमाण (न्याय) और काव्य -- इन तीन महाविद्याओं में अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। इसीलिए उन्होंने बड़े गर्व के साथ स्वयं को 'विद्यात्रयीचणम्' और 'त्रैविद्यवेदिनः' कहा है।[4] वस्तुतः हैमबृहद्वृत्तिन्यास, द्रव्यालंकार, नाट्यदर्पण और विविधविध रूपकों-स्तोत्रों का प्रणयन कर उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा का जो परिचय दिया है, वह उनके त्रैविद्यविज्ञत्व का प्रबल साक्ष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वे समग्र साहित्य के ज्ञाता थे। उन्होंने महाकवियों द्वारा निबद्ध रूपकों का विधिवत् अध्ययन किया था। गीत, वाद्य, नृत्य एवं लोकस्थिति का उन्हें पूर्ण परिज्ञान था।[5] उनकी रचनाओं में उपलब्ध 'अचुम्बितकाव्यतन्द्र' और 'विशीर्णकाव्यनिर्माणनिस्तन्द्र' विशेषण भी उनके अगाध ज्ञान के द्योतक हैं।[6]

रामचन्द्रसूरि अत्यन्त सुयोग्य विद्वान् एवं उच्चाचार सम्पन्न जैन सन्त थे। उनके उत्कृष्ट गुणों से प्रभावित होकर गुरु हेमचन्द्र ने अपने जीवनकाल में ही उन्हें अपना पट्टशिष्य नियुक्त कर दिया था। प्रभावकचरित से ज्ञात होता है कि एक बार सिद्धराज जयसिंह ने जिज्ञासावश हेमचन्द्र से पूछा कि आपके बाद इस पद को सुशोभित करने वाला योग्य शिष्य कौन सा है ? इसके उत्तर में हेमचन्द्र ने अपने योग्यतम शिष्य रामचन्द्र का नाम बतलाया।[7] वस्तुतः अपने असामान्य विद्या-वैभव एवं बहु-आयामी व्यक्तित्व के कारण रामचन्द्रसूरि ही इस गरिमामय पद के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। हेमचन्द्र के स्तर को देखते हुए यह सहज ही प्रतीत होता है कि उनके शिष्यों अर्थात् रामचन्द्र के सतीर्थ्यों की संख्या बहुत अधिक रही होगी परन्तु दुर्भाग्यवश अभी तक केवल सात के विषय में ही जानकारी प्राप्त हो सकी है, जिनके नाम इस प्रकार हैं-- महेन्द्रसूरि, गुणचन्द्रगणि, वर्धमानगणि, देवचन्द्रमुनि, यशश्चन्द्रगणि, उदयचन्द्र और बालचन्द्रगणि।

(ग) राजाश्रय -- मध्यकाल में राजनीतिक उथल-पुथल एवं अन्य कारणों से साहित्य-सर्जन की गति अवरुद्ध होने लगी। अतः साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षण के लिए कवियों को राजाश्रय की आवश्यकता प्रतीत हुई। दूसरी ओर बहुविश्रुत विद्वानों एवं कवियों को प्रश्रय प्रदान करना भी तत्कालीन शासकों के लिए प्रतिष्ठा का विषय बन गया था। हेमचन्द्र ने इस अवसर का भरपूर लाभ उठाया। उन्होंने गुजरात के चौलुक्यनरेश सिद्धराज जयसिंह की राजसभा में पहले स्वयं को प्रतिष्ठित किया और बाद में अपने प्रिय शिष्य रामचन्द्र के लिए राजाश्रय प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रभावकचरित से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र ने ही सिद्धराज से रामचन्द्र का परिचय कराया था। परिचय देते समय उन्होंने रामचन्द्र विरचित एक राजस्तुति भी सुनाई, जिसे सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। बाद में उसने रामचन्द्र को हेमचन्द्राचार्य के चरण-कमलों में भक्तिभाव रखते हुए जैनेन्द्रशासन में एकाग्रचित होने का परामर्श भी दिया था।[8] उपदेशतरंगिणी में इन दोनों से सम्बन्धित एक अन्य विवरण भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के अनुसार एक बार ग्रीष्म ऋतु में क्रीडोद्यान जाते समय सिद्धराज से रामचन्द्र की भेंट हो गयी। राजा ने पूछा कि गर्मी में दिन इतने बड़े क्यों हो जाते हैं ? रामचन्द्र ने तत्काल एक स्वरचित श्लोक सुनाया, जिसमें उत्तर के साथ राजा के प्रताप का भी वर्णन उपलब्ध था। राजा ने पत्तन नगर का वर्णन करने को कहा। उन्होंने अविलम्ब उत्प्रेक्षालंकार युक्त सुन्दर श्लोक में नगर का वैभव वर्णन कर दिया। इन राजभक्तिपूर्ण, कल्पनातिरंजित एवं सद्यःरचित पद्यों को सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ और उसने सभी के समक्ष रामचन्द्र को 'कविकटारमल्ल' की महनीय उपाधि से सम्मानित किया।[9] प्रबन्धचिन्तामणि में भी यह प्रसंग संक्षिप्त रूप से वर्णित है।[10]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामचन्द्रसूरि प्रबल पुरुषार्थी एवं प्रखर प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने शीघ्र ही सिद्धराज की विद्वत्सभा में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। राजा उन्हें पर्याप्त सम्मान देता था और काव्यप्रबन्धादि के गुण-दोष-परीक्षण सदृश गुरुतर कार्यों के लिए भी अवसर देता था। प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार श्रीपाल-रचित सहस्रलिंगसरोवरप्रशस्ति के संशोधन के लिए राजा ने जब विद्वानों को आमन्त्रित किया, तब हेमचन्द्र ने अपने गच्छ की ओर से रामचन्द्र को यह समझाकर भेजा कि यदि सभी लोग प्रशस्ति की प्रशंसा करें तो उन्हें टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। प्रशस्ति में राजा की ममता और श्रीपाल के वैदग्ध्य को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने कहा कि सभी पद्य अच्छे हैं तथापि 'कोशेनापि युतं दलैरुपचितं.' विशिष्ट है। राजा ने जब रामचन्द्र से पूछा, तब उन्होंने उक्त पद्य में व्याकरण सम्बन्धी दो दोषों की ओर ध्यान आकृष्ट किया।[11] इस प्रकार लोकविश्रुत विद्वानों के मध्य रामचन्द्रसूरि को श्रीपाल-रचित काव्य की समीक्षा करने का जो अवसर प्राप्त हुआ, वह उनकी अगाध विद्वत्ता का द्योतक है।

सिद्धराज का उत्तराधिकारी कुमारपाल भी हेमचन्द्र का परमभक्त था। उसने सं. 1216 में जैनधर्म स्वीकार कर लिया। अतः स्पष्ट है कि इसके पूर्व ही हेमचन्द्र उसकी विद्वत्सभा में आ गये थे। अनुमान है कि रामचन्द्रसूरि ने भी अपने गुरु के साथ या तत्काल बाद ही कुमारपाल का प्रश्रय प्राप्त किया होगा। वे कुमारपाल की सभा के प्रख्यात विद्वान् थे। उनकी कीर्ति-कौमुदी सर्वत्र विस्तृत थी। समस्यापूर्ति के क्षेत्र में उनका नाम अग्रगण्य था। मेरुतुंग और चरित्रसुन्दर गणि ने वाराणसी से आने वाले कवि विश्वेश्वर द्वारा समस्यायें प्रस्तुत करने और रामचन्द्र द्वारा उनकी पूर्ति करने के रोचक प्रसंग का वर्णन किया है।[12]

रामचन्द्र की विद्वत्ता एवं सच्चरित्रता के कारण कुमारपाल उन्हें पर्याप्त सम्मान देता था। विषम परिस्थितियों में वह उनसे सदुपदेश भी ग्रहण करता था। जयसिंहसूरि विरचित कुमारपाल चरित से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र के असामयिक निधन से दुःखी कुमारपाल को रामचन्द्र ही प्रतिदिन सम्बोधित करते थे। एक अन्य विवरण से ज्ञात होता है कि अजयपाल द्वारा दिये गये विष से जब कुमारपाल प्रभावित हुआ, तब पर्यन्ताराधना करने के लिए उसने मुनीश्वर रामचन्द्र को ही बुलाया था।[13] इन विवरणों से स्पष्ट है कि कुमारपाल के अन्तिम समय तक उससे रामचन्द्रसूरि का घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा।

(घ) नेत्रनाश -- ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि रामचन्द्र की एक आँख नष्ट हो गयी थी। इस विषय में कई प्रकार के विवरण उपलब्ध हैं। प्रभावकचरित के अनुसार हेमचन्द्र ने जब सिद्धराज से रामचन्द्र का परिचय कराया, तब उसने रामचन्द्र को हेमप्रभु की सेवा करते हुए जैनेन्द्रशासन में "एक दृष्टि" बने रहने का परामर्श दिया था। इसके बाद उपाश्रय में रामचन्द्र की दाहिनी आँख नष्ट हो गयी।[14] मेरुतुङ्ग ने उनके नेत्रनाश का दूसरा कारण बतलाया है। उनके अनुसार सहस्रलिंग-सरोवर-प्रशस्ति में व्याकरण सम्बन्धी दोष दिखलाने पर सिद्धराज की नजर लग जाने (क्रुद्धदृष्टि पड़ने) से उपाश्रय में प्रवेश करते समय रामचन्द्र की एक आँख फूट गयी।[15] डॉ. बुहलर ने भी उनके नेत्रनाश को उनके द्वारा की गयी इसी कुविचारित निन्दा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का परिणाम माना है।[16] पीटर्सन महोदय के चतुर्थ प्रतिवेदन से ज्ञात होता है कि रामचन्द्र बहुत उद्दण्ड थे। उन्हें जब ऋषि जयाम्न के समक्ष लाया गया, तब उन्होंने जैन विश्वास के अनुसार स्वयं को एक दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया।[17] इस प्रकार उन्होंने स्वयं ही अपनी एक आँख नष्ट कर दी। प्रो. साण्डेसरा का विचार है कि उनकी आँख जन्म से या बाल्यावस्था में ही दैववशात् नष्ट हुई होगी।[18] यद्यपि स्वयं कवि ने अपने नेत्रनाश की घटना का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया तथापि उनके स्तोत्रों में भगवान् जिन से दृष्टिदान की जो प्रार्थना की गयी है, उसमें उनकी चक्षुक्षति के सूक्ष्म संकेत विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ नेमिस्तव का अन्तिम पद्य प्रस्तुत है--

नेमे ! निधेहि निशितासिलताभिराम चन्द्रावदातमहटसं मयि देव ! दृष्टिम्।
सद्यस्तमांसि विततान्यपि यान्तु नाशमुज्जृम्भतां सपदि शाश्वतिकः प्रकाशः।।

इसी प्रकार षोडशिका नाम से विख्यात सभी स्तोत्रों के अन्त में निम्नलिखित पद्य उपलब्ध होता है--

स्वामिन्ननन्तफलकल्पतरोऽतिराम चन्द्रावदात चरिताश्चितविश्वचक्र !।
शक्रस्तुतांघ्रिसरसीरुह ! दुःस्थसार्थे देव ! प्रसीद करुणां कुरुदेहि दृष्टिम्।।

यद्यपि इन पद्यों में कवि ने मुक्ति पथ पर अग्रसर होने के लिए आध्यात्मिक दृष्टि प्रदान करने के लिए प्रार्थना की है परन्तु उसकी बारम्बार आवृत्ति अवश्य ही द्व्यर्थी प्रतीत होती है। व्यतिरेकद्वात्रिंशिका के 31वें पद्य -- "जगति पूर्वविधेर्विनियोगजं विधिनतान्ध्य-गलत्तनुताऽऽदिकम्" में उपलब्ध "विधिनतान्ध्य" और "गलत्तनुता" पदों से प्रतीत होता है कि अन्तिम अवस्था में रामचन्द्र दोनों नेत्रों से ज्योतिहीन हो गये थे।

(ङ) अन्त -- रामचन्द्रसूरि का अन्तिम समय अत्यन्त दुःखद व्यतीत हुआ। कुमारपाल का भतीजा अजयपाल एक विशिष्ट कारणवश उनसे वैर मानता था। अतः सत्तारूढ़ होने पर उसने इस महान् कवि का अन्त करवा दिया। प्रबन्धचिन्तामणि से ज्ञात होता है कि अजयपाल द्वारा जब प्रबन्धशतकर्ता रामचन्द्र को तप्त तामपट्टिका पर बैठाया गया, तब उन्होंने एक श्लोक पढ़ा और दाँत से अपनी जिह्वा काटकर मृत्यु को प्राप्त किया।[19] यहाँ राजा के द्वेष का कारण नहीं स्पष्ट किया गया जबकि अन्य प्रबन्धों में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्रबन्धकोश के अनुसार एक बार कुमारपाल ने हेमचन्द्रसूरि से परामर्श माँगा कि वह अपना उत्तरार्धकारी किसे बनाये। हेमचन्द्र ने अजयपाल का विरोध और प्रतापमल्ल का समर्थन किया। हेमचन्द्र के एक शिष्य बालचन्द्र ने अपने मित्र अजयपाल से बता दिया। अजयपाल हेमाचार्य रामचन्द्र आदि से द्वेष करने लगा और सत्तारूढ़ होने पर उन्हें तप्त लौहपट्टिका पर बैठा कर उनकी जीवनलीला समाप्त कर दी। लगभग इसी प्रकार के विवरण जयसिंह के कुमारपालचरित और जिनमण्डनगणि-रचित कुमारपालप्रबन्ध में भी उपलब्ध हैं।[20]

पुरातनप्रबन्धसंग्रह में यह घटना अन्य प्रकार से वर्णित है। हेमसूरि के रामचन्द्र और बालचन्द्र शिष्य थे। गुरु ने रामचन्द्र को सुशिष्य समझकर विशेष विद्या और मान दिया। इससे बालचन्द्र क्रुद्ध हो गया और अजयपाल से मिल गया। अजयपाल जब राजा बना, तब उसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामचन्द्र से हेमसूरि की सम्पूर्ण विद्यायें अपने मित्र बालचन्द्र को प्रदान करने को कहा। रामचन्द्र ने उस कुपात्र को गुरु की विद्या देने से इन्कार कर दिया। राजा ने उन्हें अग्नि पर बैठने का आदेश दिया। रामचन्द्र ने अपनी जिह्वा काटकर प्राण त्याग दिया।[21] यद्यपि यशःपाल, आभड आदि ने इस अमानवीय घटना को रोकने का भरसक प्रयास किया, तथापि उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। इस प्रकार अजयपाल के अत्याचार द्वारा इस महान् अहिंसावादी सन्त कवि का अन्त हो गया।

(च) समय -- रामचन्द्रसूरि ने अपने जन्म समय आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया परन्तु कुछ ऐसे साधन उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर उनके समय का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐतिहासिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि रामचन्द्रसूरि चौलुक्यनरेश सिद्धराज, कुमारपाल और अजयपाल के शासनकाल अर्थात् सं. 1150 से 1233 (1093 से 1176 ई.) के मध्य विद्यमान थे। आधुनिक विद्वानों में पी.वी.काणे ने उनका जीवन-काल 1150 से 1175 ई. तक[22], डॉ. के.एच.त्रिवेदी ने 1125 से 1173 ई. तक[23] और आ. बलदेव उपाध्याय ने 1130 से 1180 ई. तक माना है।[24] डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, प्रो. साण्डेसरा और प्रो. जे.एच. दवे ने नलविलास के सम्पादक लालचद्रगान्धी के आधार पर रामचन्द्र का जन्म सं. 1145, दीक्षा 1150, सूरिपद प्राप्ति 1166, पट्टधरपद प्राप्ति 1229 और मृत्यु 1230 में स्वीकार किया है।[25] परन्तु यह मत नितान्त भ्रामक है। श्री गाँधी ने जो समय आदि का उल्लेख किया है, वह रामचन्द्र का नहीं, बल्कि उनके गुरु हेमचन्द्र का है।[26] रामचन्द्र का जन्म आदि हेमचन्द्र के बाद होना चाहिए।

रामचन्द्र की रचनाओं में मुरारि (800 ई.)[27], अभिनवगुप्त (दशम शती ई.)[28] और मम्मट (ग्यारहवीं शती ई.)[29] का नामोल्लेख मिलता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि नाट्यदर्पण की रचना धनञ्जय के दशरूपक (974-994 ई.) की प्रतिद्वन्द्विता में हुई थी।[30] अतः स्पष्ट है कि रामचन्द्र का आविर्भाव दशम शताब्दी ई. के पश्चात् हुआ था। वे अपने गुरु हेमचन्द्र (1088-1172 ई.) से आयु में छोटे थे और गुरु को पूर्ण विश्वास था कि यदि कोई दैवी प्रकोप न हुआ तो उनका शिष्य उनके बाद भी जीवित रहेगा। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन-काल में ही रामचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। यदि रामचन्द्र को गुरु से 20-22 वर्ष छोटा मान लिया जाय तो उनका जन्म समय 1110 ई. के आस-पास निर्धारित होता है। एक अन्य आधार पर भी यही निष्कर्ष निकलता है। हेमचन्द्र ने सिद्धराज से परिचय कराते समय जो राजस्तुति प्रस्तुत की थी, उसमें धारा-विजय का वर्णन किया गया था।[32] यह विजय 1135 ई. के फाल्गुन मास से ज्येष्ठ मास के मध्य मानी जाती है।[31] सम्भवतः इस विजय के तत्काल बाद ही रामचन्द्र ने उस राजस्तुति को प्रस्तुत किया था। इसके कुछ दिनों बाद ही राजा ने उन्हें 'कविकटारमल्ल' की उपाधि दी थी। विद्वानों का अनुमान है कि उस समय रामचन्द्र की आरम्भिक अवस्था थी।[33] यदि उन्हें 25 वर्ष का मान लिया जाय तो उनकी जन्मतिथि लगभग 1110 ई. ठहरती है। 1135 ई. में उन्हें 25 वर्ष से कम आयु वाला भी नहीं माना जा सकता क्योंकि लगभग 1140 में सहस्रलिंगसरोवर-प्रशस्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के संशोधन के समय वे पूर्ण वयस्क रहे होंगे, तभी तो उन्हें यह गुरुतर कार्यभार सौंपा गया था। डॉ. नेमिचन्द्र ने भी बिना किसी तर्क-वितर्क के रामचन्द्र की आरम्भिक तिथि 1109 ई. मानी है।[34]

प्रायः सभी साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि रामचन्द्र का अन्त अजयपाल (सं. 1030-1233) के अत्याचारों से हुआ था। इस सन्दर्भ में अनुमान है कि उसने सत्तारूढ़ होने के तत्काल बाद ही उन्हें प्राणदण्ड दिया होगा क्योंकि उसे यह भय रहा होगा कि रामचन्द्र उसके विरुद्ध कोई षड्यन्त्र न तैयार कर दें। इस आधार पर रामचन्द्रसूरि का जीवनकाल 1110 से 1173 ई. तक मानना अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है।

रचनायें

रामचन्द्रसूरि की "प्रबन्धशतकर्ता"[35] उपाधि से प्रतीत होता है कि उन्होंने एक सौ ग्रन्थों का सृजन किया था। परन्तु मुनि जिनविजय जी इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि "प्रबन्धशत" एक ग्रन्थ विशेष का नाम है, जिसमें पाँच सहस्र श्लोकों में रूपक के द्वादश भेदों का निरूपण किया गया है।[36] डॉ. के.एच. त्रिवेदी ने इस मत का खण्डन कर रामचन्द्र को सौ ग्रन्थों का रचयिता माना है।[37] वस्तुतः "प्रबन्धशत" को एक ग्रन्थ विशेष मानना उचित नहीं है। आज तक इस ग्रन्थ का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं हुआ। जब रामचन्द्र ने नाट्यदर्पण में रूपक के द्वादश भेदों का सम्यक् विवेचन कर दिया, तब उन्हें उसी विषय पर दूसरा ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता ही क्या थी ? यदि उन्होंने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया होता तो उसके एकादि उदाहरण किसी न किसी ग्रन्थ में अवश्य मिलता। वे नाट्यदर्पण की रचना के पूर्व ही प्रबन्धशतकर्ता बन चुके थे। यदि यह रूपक रचना से सम्बन्धित ग्रन्थ होता तो उसका उल्लेख नाट्यदर्पण में ही मिलता, परन्तु ऐसा न होने से प्रबन्धशतको एक ग्रन्थ विशेष मानना उचित नहीं है। साहित्य में "शत" शब्द का प्रयोग लगभग सौ अथवा बहुसंख्यक अर्थ में होता है। स्वयं कवि ने भी कुमारविहारशतक में इस शब्द का लगभग सौ के अर्थ में प्रयोग किया है, तभी तो उन्होंने इस काव्य में 116 पद्य रखे हैं। अतः प्रबन्धशतकर्ता का तात्पर्य लगभग एक सौ ग्रन्थों का प्रणेता मानना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। आधुनिक युग के अनेक विद्वानों का भी यही मत है। अभी तक उनकी 47 रचनाओं के विषय में जानकारी उपलब्ध है, जिनमें 11 रूपक, 9 शास्त्रीय ग्रन्थ, 3 काव्य और 30 स्तोत्र हैं।

(क) नाटक -- रामचन्द्रसूरि के रूपकों का विवरण इस प्रकार है --

1. राघवाभ्युदय -- यह नाटक अभी उपलब्ध नहीं हुआ किन्तु नलविलास[38] में उल्लेख होने से यह पूर्ववर्ती रचना है। कवि ने इसे अपने पाँच सर्वोत्तम प्रबन्धों-- राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय, नलविलास, रघुविलास और द्रव्यालंकार में परिगणित किया है।[39] नाट्यदर्पण में उपलब्ध उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इसमें सीता-स्वयंवर से रावण-वध पर्यन्त कथा वर्णित है।[40]

2. यादवाभ्युदय -- यह भी अनुपलब्ध और नलविलास से पूर्ववर्ती नाटक है। इसमें कंस और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जरासन्ध के वध के बाद नवम वासुदेव श्रीकृष्ण का राज्याभिषेक वर्णित है।[41]

3. नलविलास -- यह रामचन्द्रसूरि का सर्वोत्तम नाटक है। कवि ने कुछ रचनाओं में अपने गुरु हेमचन्द्राचार्य के "सिद्धहैम" व्याकरण का ससम्मान उल्लेख किया है।[42] किन्तु नलविलास में उक्त ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि नलविलास पूर्ववर्ती रचना है। सिद्धहैम का रचनाकाल 1135-1138 ई. माना जाता है।[43] अतः नलविलास की रचना 1138 ई. के पूर्व अवश्य हो गयी होगी।

नलविलास सात अंकों का नाटक है। इसमें महाभारतीय नलोपाख्यान और वसुदेवहिण्डी प्रभृति जैनस्रोतों से ग्रहीत नल-दमयन्ती की प्रणयकथा वर्णित है। प्रथम अंक में नल को कापालिक-लम्बोदर द्वारा दमयन्ती के चित्रपट की प्राप्ति और द्वितीय अंक में दमयन्ती को अनुकूल बनाने के प्रयासों का वर्णन हुआ है। तृतीय अंक में नायक-नायिका का मिलन और चतुर्थ अंक में दमयन्ती द्वारा नल का वरण होता है। पंचम अंक में कापालिक-षड्यन्त्रों के कारण नल अपने भाई कूबर के हाथों द्यूत में सर्वस्व हारकर देशान्तरगमन करता है और मार्ग में वनभूमिसुप्ता दमयन्ती को त्यागकर अयोध्या चला जाता है। षष्ठ अंक के गर्भांक में विदर्भागत भरतों द्वारा प्रस्तुत नलान्वेषण नाटक में दमयन्ती के प्रतिबिम्ब को देखने से नल को विश्वास हो जाता है कि दमयन्ती की जीवनलीला समाप्त हो गयी। सप्तम अंक में दमयन्ती स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए नल विकृत रूप में विदर्भ पहुँचता है। वहाँ कापालिक द्वारा नल का मरण-प्रवाद सुनकर दमयन्ती चितारोहण करना चाहती है किन्तु अपने पूर्वरूप में प्रकट होकर नल उसकी रक्षा करता है।

नलविलास की कथावस्तु अत्यन्त रोचक एवं अभिनयानुकूल है। अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों की योजना में कवि का नाट्य-नैपुण्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक विलक्षण है। इसमें नायक को धीरोदात्त रूप में न रखकर धीरललित रूप में चित्रित किया गया है। रस निष्पत्ति की दृष्टि से नाटक अत्यन्त समृद्ध है। इसमें शृंगार को अंङ्गीरस के रूप में और अन्य रसों को अंग रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसकी भाषा प्रौढ़ एवं प्रांजल है। वैदर्भीरीति में लिखित यह नाटक गुण, अलंकार, छन्दादि के समुचित प्रयोग से पूर्णतः सुसज्जित है।

4. रघुविलास -- यह नलविलास से परवर्ती और आठ अंकों का नाटक है। इसकी अधिकांश घटनायें जैन-रामायण पर आधारित हैं। प्रथम अंक में श्रीराम का वनगमन और द्वितीय अंक में सीता-ह रण का वर्णन है। तृतीय अंक में दुःखी राम के पास एक विद्याधर आता है और उनसे मायासुग्रीव का वध कर वास्तविक सुग्रीव की रक्षा करने का अनुरोध करता है। चतुर्थ अंक में रावण, सीता को आकृष्ट करने का असफल प्रयास करता है। पंचम अंक में विभीषण का राम की शरण में आने और चन्द्रराशि का रामदूत रूप में लंकागमन की घटनायें वर्णित हैं। षष्ठ अंक में इन्द्रजित् और कुंभकर्ण के बन्दी बनाये जाने पर क्रुद्ध रावण शक्ति प्रहार से लक्ष्मण को मूर्च्छित कर देता है। सप्तम अंक में मन्दोदरी आदि रावण को समझाती हैं। अष्टम अंक में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घोर युद्ध के पश्चात् लक्ष्मण द्वारा रावण का वध और अन्त में राम-सीता का सानन्द मिलन होता है।

इस नाटक में माया-पात्रों की कल्पना एवं उनके निर्वाह में कवि की विलक्षण प्रतिभा का परिज्ञान होता है। राम-विलाप पर विक्रमोर्वशीय का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वस्तु, नेता, रस आदि नाटकीय तत्वों की दृष्टि से यह नाटक पूर्णतः समृद्ध है।

5. **सत्यहरिश्चन्द्र** -- इसकी प्रस्तावना में "आदिरूपक" शब्द को देखकर डॉ. चौधरी ने इसे कवि की आदि कृति मान लिया है,[44] जबकि आदिरूपक का अर्थ है-- रूपक का आदि प्रकार अर्थात् नाटक। इसीलिए नलविलास को "आद्यं रूपकं" और कौमुदीमित्राणन्द प्रकरण को "द्वितीयं रूपकं" कहा गया है। वस्तुतः सत्यहरिश्चन्द्र परवर्ती रचना है।

सत्यहरिश्चन्द्र छः अंकों का नाटक है। इसकी कथावस्तु सत्यवादी हरिश्चन्द्र के पौराणिक आख्यान पर आधारित है। एक दिन इन्द्र ने हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की परन्तु वह कुलपति को अच्छी नहीं लगी। उसने राजा के सत्व की परीक्षा लेने के लिए कूट-विधान तैयार किया। राजा ने एक वराह को मारने के लिए बाण चलाया, जिससे कुलपति-पुत्री वंचना की पालिता गर्भिणी हरिणी भी मर गयी। कुलपति ने राजा को शुद्धि के लिए सर्वस्वदान करने को कहा। द्वितीय अंक में वह साकेत पहुँचा और एक मास के अन्दर मुद्रायें देने का आदेश दिया। तृतीय अंक में पुत्र और पत्नी को बेचने के बाद राजा चाण्डाल के यहाँ नौकरी करते हैं। चतुर्थ-पंचम अंक में कुलपति के षडयन्त्रों द्वारा राजा के कष्टों का वर्णन है। षष्ठ अंक में मृत पुत्र के शव को देखने पर भी राजा अपनी सत्यनिष्ठा बनाये रखते हैं। अन्त में उनकी सफलता के लिए देवगण उन्हें बधाई देते हैं।

इस नाटक में चरित्र-निर्माण एवं लोकानुरंजन के सभी तथ्य विद्यमान हैं। रस, भाव, भाषा, अभिनय आदि की दृष्टि से यह नाटक पूर्णतः सफल है।

6. **निर्भयभीम व्यायोग** -- यह व्यायोग कोटि का एकांकी रूपक है। इसमें महाभारतीय बकासुर-वध की कथा मनोरम शैली में वर्णित है। इस पर भास के मध्यमव्यायोग और हर्ष के नागानन्द का प्रभाव स्पष्ट है।

7. **मल्लिकामकरन्द** -- इसकी प्रस्तावना में इसे नाटक कहा गया है,[45] जबकि शास्त्रीय दृष्टि से यह प्रकरण है। इसमें छः अंक है। प्रकरण की प्रकृति के अनुसार इसमें मल्लिका और मकरन्द की प्रणय-कथा लोकपरम्परा पर आधारित है। प्रारम्भ में नायक मरणोद्यता नायिका की रक्षा करता है। बाद में मल्लिका का पालक बतलाता है कि यह विद्याधर की पुत्री है और सोलह वर्ष की आयु में वह इसे पुनः उठा ले जायेगा। मकरन्द उसकी रक्षा के लिए अनेक कष्ट उठाता है। अन्त में नायक-नायिका का सानन्द मिलन होता है। रस-निष्पत्ति, गुण, अलंकार रीति, छन्द आदि की दृष्टि से यह प्रकरण उत्तम है। इसकी भाषा सरल एवं प्रवाहयुक्त है। इस पर भवभूति-विरचित मालतीमाधव का पर्याप्त प्रभाव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. **कौमुदीमित्राणन्द** -- दस अंकों के इस सामाजिक प्रकरण में जिनदासवणिक के पुत्र मित्राणन्द और कुलपति-पुत्री कौमुदी की प्रणय-कथा का वर्णन हुआ है। प्रारम्भ में नायक को नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं, बाद में नायक-नायिका का मिलन होता है। कवि ने इसे प्रकरण बनाने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु उसे पूर्ण सफलता नहीं मिली। इसकी कथावस्तु अव्यवस्थित और अनाटकीय है। इस पर दशकुमारचरित का पर्याप्त प्रभाव है।

9. **रोहिणीमृगांक** -- यह रूपक अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। नाट्यदर्पण में उपलब्ध उद्धरणों से स्पष्ट है कि इसमें राजकुमार मृगांक और रोहिणी की प्रणय-कथा वर्णित है।[46]

10. **वनमाला** -- नाट्यदर्पण[47] में उपलब्ध एक मात्र उद्धरण के अनुसार इस नाटिका में राजा नल और कुमारी वनमाला की प्रणय-कथा चित्रित है। सम्भवतः यह कथा दमयन्ती के महादेवी बनने के बाद की है।

11. **यदुविलास** -- रामचन्द्रसूरि का यदुविलास नाटक अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। कहा जाता है कि इसका उल्लेख रघुविलास में हुआ है। रघुविलास के सम्पादक प्रो. जे.एच. दवे ने भी यही कहा है[48] किन्तु उनके द्वारा सम्पादित रघुविलास में यदुविलास का कोई उल्लेख नहीं मिलता। पता नहीं उन्होंने किस प्रति के आधार पर ऐसा लिखा है।

(ख) **शास्त्रीयग्रन्थ** -- रामचन्द्रसूरि के शास्त्रीय ग्रन्थों का परिचय निम्नवत् है--

1. **नाट्यदर्पण** -- यह रामचन्द्रसूरि और गुणचन्द्रगणि की संयुक्त रचना है। इसमें भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर रूपक-रचना पर प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में 207 कारिकायें हैं, जो चार विवेकों में विभक्त हैं। संक्षिप्तता के कारण कहीं-कहीं कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट नहीं होता, इसलिए ग्रन्थकारों ने विस्तृत वृत्ति भी लिख दी। यद्यपि नाट्यदर्पण भरत के नाट्यशास्त्र और अभिनव भारती पर ही आधारित है, तथापि कुछ स्थलों पर उनके मतों का परिष्कार भी किया गया है। यत्र-तत्र दशरूपक की अप्रत्यक्ष रूप से आलोचना भी की गयी है। इस ग्रन्थ की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें ग्रन्थकारों ने अनेक मौलिक उद्भावनायें प्रस्तुत की हैं,[49] यथा-- रूपक के द्वादश भेदों का निरूपण, रसों का सुखात्मक-दुःखात्मक वर्गों में विभाजन, सन्धि-रचना आदि। यदि नाट्यदर्पण को रामचन्द्रसूरि का कीर्तिस्तम्भ कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

2. **द्रव्यालंकार** -- यह भी रामचन्द्र गुणचन्द्र की संयुक्त कृति है। इसमें जैन न्याय का विषद विवेचन हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन अध्यायों में विभक्त है परन्तु अभी तक प्रथम अध्याय उपलब्ध नहीं हुआ। शेष दो अध्यायों की जो ताडपत्रीय प्रति मिली है, वह वि.सं. 1202 में लिपिबद्ध की गयी थी।[50]

3. **हैमबृहद्वृत्तिन्यास** -- यह हेमचन्द्राचार्य-प्रणीत सिद्धहैम व्याकरण पर आधारित न्यास ग्रन्थ है।

(ग) **काव्य** -- रामचन्द्रसूरि-विरचित काव्यों का परिचय इस प्रकार है --

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. कुमारविहारशतक -- प्रस्तुत खण्डकाव्य कुमारपाल द्वारा निर्मित कुमारविहार की प्रशस्ति रूप में लिखित है। कुमारपाल ने सं. 1216 में जैनधर्म स्वीकार किया था। इस आधार पर इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं. 1216 से 1230 के मध्य माना जा सकता है। इस शतक में 116 पद्य हैं। प्रारम्भ के आठ पद्यों में पार्श्वनाथ की स्तुति और शेष में विहार के वैभव एवं महात्म्य का वर्णन किया गया है।

2. सुधाकलश -- सुभाषितकोष के रूप में विख्यात यह ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हुआ परन्तु नाट्यदर्पण में प्राप्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध है।[51]

3. दोधक पंचशती -- पुरातनप्रबन्धसंग्रह से ज्ञात होता है कि अजयपाल ने जब रामचन्द्र को प्राणदण्ड स्वरूप अग्नि में बैठने का आदेश दिया, तब उन्होंने दोधकपंचशती की रचना की।[52] ग्रन्थ के शीर्षक से स्पष्ट है कि इसमें दोधक छन्द में पाँच सौ पद्य थे। अभी तक यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ।

(घ) स्तोत्र -- रामचन्द्रसूरि-विरचित जो स्तोत्र[53] उपलब्ध हुए हैं, उनका विवरण निम्नवत् है --

1. अपह्नुतिद्वात्रिंशिका -- भगवान् जिन की स्तुति से सम्बन्धित इस स्तोत्र में 32 पद्य हैं, इसके सभी पद्यों में वंशस्थ छन्द और अपह्नुति अलंकार विद्यमान हैं।

2. अर्थान्तरन्यासद्वात्रिंशिका -- इस स्तोत्र में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति सम्बन्धी ३२ पद्य हैं, जिनमें वंशस्थ छन्द और अर्थान्तरन्यास अलंकार की छटा द्रष्टव्य है।

3. व्यतिरेकद्वात्रिंशिका -- यह स्तोत्र भी पार्श्वनाथ की स्तुति में लिखा गया है। इसके सभी बत्तीसों पद्यों में द्रुतविलम्बित छन्द और व्यतिरेकालंकार विद्यमान हैं।

4. मुनिसुव्रतदेवस्तव -- इसमें मुनि सुव्रतदेव के स्तुतिपरक 24 पद्य हैं, जो वसन्ततिलका छन्द में आबद्ध हैं।

5. श्रीनेमिस्तव -- इसमें भगवान् नेमिनाथ की स्तुति से सम्बन्धित 24 पद्य हैं।

6. जिनस्तुतिद्वात्रिंशिका -- भगवान् जिन की स्तुति से सम्बन्धित इस स्तोत्र का अन्तिम पद्य मन्दाक्रान्ता में और शेष 31 पद्य वसन्ततिलका छन्द में हैं।

7. दृष्टान्तगर्भस्तुतिद्वात्रिंशिका -- यह भगवान् जिन की स्तुति में दृष्टान्त अलंकार युक्त 32 पद्यों का स्तोत्र है।

8. श्रीयुगादिदेवद्वात्रिंशिका -- इसमें भगवान् ऋषभदेव की स्तुति से सम्बन्धित 32 पद्य हैं।

9. शान्तिद्वात्रिंशिका -- शान्तिनाथ की स्तुति से सम्बन्धित और वंशस्थ छन्द में निबद्ध इस स्तोत्र के केवल 28 पद्य ही उपलब्ध हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. **भक्त्यातिशयद्वात्रिंशिका** -- पार्श्वनाथ की स्तुति में लिखे गये इस स्तोत्र के सभी बत्तीसों पद्यों में उपजाति छन्द का प्रयोग हुआ है।

11. **प्रसादद्वात्रिंशिका** -- यह स्तोत्र भी पार्श्वनाथ की स्तुति से सम्बन्धित है। इसमें सभी 32 पद्य मन्दाक्रान्ता छन्द में हैं।

12-28. **षोडशिका साधारण जिनस्तव** -- रामचन्द्रसूरि-विरचित 17 स्तोत्रों में सोलह-सोलह पद्य हैं, इसलिए उन्हें षोडशिका कहा जाता है। इनमें से प्रथम स्तोत्र में कई छन्द हैं, जबकि शेष में केवल अनुष्टुप् का प्रयोग हुआ है। सम्भवतः कवि ने इनकी रचना अन्तिम अवस्था में की थी, क्योंकि इन सभी स्तोत्रों के अन्त में वही एक श्लोक मिलता है, जिसमें दृष्टिदान की प्रार्थना की गयी है।

29. **जिनस्तोत्र** -- यह भगवान् जिन की उपासना से सम्बन्धित स्तोत्र है।

30. **आदिदेवस्तव** -- इसमें भगवान् ऋषभदेव की स्तुति से सम्बन्धित पद्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रामचन्द्रसूरि विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। उनकी रचनाओं में उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिकता के साथ-साथ ज्योतिष, सामुद्रिक, शकुन, स्वप्न, नीति, कामशास्त्र, तन्त्र-मन्त्र, न्याय, दर्शन, धर्मशास्त्र, नाट्यशास्त्र, और पौराणिक उपाख्यानों से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य विद्यमान हैं। वस्तुतः कवित्व और पाण्डित्य का ऐसा अनुपम संयोग अन्यत्र दुर्लभ है। अतः इस महाकवि की कृतियों का यथोचित परिशीलन नितान्त आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

1. आ. विश्वेश्वर, हिन्दी नाट्यदर्पण, भूमिका, पृ. 8।
   प्रो. जे.एच.दबे, कौमुदीमित्राणन्द, भूमिका, पृ. 6।
2. नलविलास, पृ. 1, रघुविलास, पृ. 2, सत्यहरिश्चन्द, पृ. 2, प्रबन्धकोश, पृ. 98
3. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ. 49
4. रघुविलास 1/2, नाट्यदर्पण, अवतरणिका, श्लोक 9
5. नाट्यदर्पण, अव., श्लोक 2,4
6. रघुविलास, 1/3, कौमुदी, पृ. 1
7. प्रभावकचरित, 22/129-133
8. वही, 22/129-37
9. उपदेशतरंगिणी, पृ. 62
10. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. 63
11. वही, पृ. 64
12. वही, पृ. 89/कुमार - नलविलास, प्रस्तावना, पृ. 30-31 पर उद्धृत
13. कुमारपालचरित, दशम सर्ग
14. प्रभावकचरित, 22/137-39
15. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. 64
16. हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित्र (हिन्दी), पृ. 32
17. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ. 643-44
18. हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल, पृ. 13
19. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. 97
20. प्रबन्धकोश, पृ. 98, कुमारपालचरित, 10/107-14, कुमारपालप्रबन्ध (भावनगर), पृ. 113
21. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ. 49
22. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (हिन्दी), पृ. 521
23. दि नाट्यदर्पण आफ रामचन्द्र गुणचन्द्र :ए क्रिटिकल स्टडी पृ. 219
24. संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 574
25. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 6, पृ.574, हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल, पृ. 5, रघुविलास, भूमिका, पृ. 6
26. द्रष्टव्य, नलविलास, प्रस्तावना, पृ. 35
27. नलविलास 1/3, कौमुदी. 1/3
28. नाट्यदर्पण 1/5 की वृत्ति
29. वही, 3/28 की वृत्ति
30. दशरूपक (श्रीनिवास), भूमिका, पृ. 8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

31. प्रभावकचरित, 22/135
32. जैन पुस्तक प्रशस्तिसंग्रह, पृ. 103, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ. 112
33. नलविलास, प्रस्तावना, पृ.27, दि नाट्यदर्पण : ए क्रिटिकल स्टडी, पृ.210
34. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. 70
35. प्र.चि. 97, निर्भयभीम, पृ. 1, मल्लिका., पृ. 2
36. कौमुदी., भूमिका, पृ.9
37. दि नाट्यदर्पण : ए क्रिटिकल स्टडी, पृ. 219-220
38. नलविलास, 1/5
39. रघुविलास, 1/3 तथा आगे
40. ना.द. 1/32, 1/33, 1/36, 1/43, 1/44, 1/45, 1/62, 1/63, 3/21 की वृत्ति
41. वही, 1/29, 1/44, 1/53, 1/58, 1/63, 1/65 की वृत्ति
42. रघुविलास, पृ. 1, सत्य., पृ. 2, कौमुदी., पृ. 1
43. डॉ. मुसलगाँवकर आचार्य हेमचन्द्र, पृ. 40
44. डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, पृ. 575
45. मल्लिका., पृ. 2
46. ना.द., 1/43, 1/45 की वृत्ति
47. वही, 3/21 की वृत्ति
48. रघुविलास, भूमिका, पृ. 9
49. द्रष्टव्य, लेखक का ही लेख - नाट्यदर्पण में मौलिक चिन्तन, तुलसीप्रज्ञा, खण्ड 19, अंक 4, पृ. 291-305
50. नलविलास, प्रस्तावना, पृ. 35
51. वही, प्रस्तावना, पृ. 35, नाट्यदर्पण, 3/25 की वृत्ति
52. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ. 49
53. जैनस्तोत्रसंग्रह, सम्पादक मुनि चतुरविजयजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत की बृहत्कथा "वसुदेवहिण्डी" में वर्णित कृष्ण

- डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव

ब्राह्मण एवं श्रमण दोनों परम्पराओं में कृष्ण-कथा के चित्रण के प्रति समान आग्रह है। ब्राह्मण-परम्परा का सम्पूर्ण वैष्णव-साहित्य राम और कृष्ण की कथा का ही पर्याय-प्रतीक बन गया है, जो सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से अपना पार्यन्तिक महत्त्व रखता है। किन्तु श्रमण-परम्परा के राम और कृष्ण लोक संग्रही व्यक्तित्त्व से उद्दीप्त हैं। वैष्णवों की तरह श्रमणों की कृष्णभक्ति-परम्परा में श्री कृष्ण की केवल प्रेममयी मूर्ति को आधार बनाकर प्रेमतत्त्व को सविस्तार व्यंजना करने की अपेक्षा उनके लोकपक्ष को उद्भावित किया गया है। श्रमणों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं की भुजाओं से वलयित गोकुल के श्रीकृष्ण नहीं हैं, अपितु बड़े-बड़े भूपालों और सामन्तों के बीच रहकर लोकमर्यादा और विधि व्यवस्था की रक्षा करने वाले, साथ ही दुष्ट दलनकारी द्वारकावासी कृष्ण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] के शब्दों में "लोक-संग्रह की भावना से विमुख, अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव, वैष्णव भक्तों ने [illegible] कृष्ण के रूप को लेकर काव्यरचना की है, वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण [illegible] सौन्दर्य का समुद्र है।" किन्तु, इसके विपरीत सामाजिक स्थिति के प्रति सतत सतर्क [illegible] श्रमण आचार्यों ने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए कृष्ण की श्रृंगारमयी लोकोत्तर [illegible] आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से जनता को रसोन्मत्त करने की अपेक्षा, लौकिक स्थूल [illegible] युक्त विषयवासनापूर्ण जीवों पर पड़ने वाले उन्मादकारी श्रृंगार के प्रतिकूल प्रभावों पर बराबर ध्यान रखा है। श्रमण-परम्परा के कृष्ण की यौवनलीला या कामलीला मूलतः उनके पुरुषार्थ या कला-वैदग्धपूर्ण को ही द्योतित करती है, जिसमें उनके मानव-जीवन की अनेकरूपता प्रतिबिम्बित है, जो एक अच्छे प्रबन्धकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व मानी जाती है। देश की अन्तर्वाहिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए श्रमण-परम्परा के कृष्णचरित का अनुशीलन इसलिए आवश्यक है कि वह अपना निजी मौलिक वैशिष्ट्य रखता है।

"श्रीमद्भागवतपुराण" के अनुसार, कृष्ण स्वयं भगवान हैं-- "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।" श्रमण-परम्परा में भी जैनाचार्यों द्वारा कृष्ण-विषयक धार्मिक लोक-मान्यताओं की उपेक्षा नहीं की गई है, अपितु उनका सम्मान करते हुए उन्हें विधिवत् अपनी परम्परा में यथास्थान सम्मिलित किया गया है और उन्हें "अर्द्धभरताधिपति" माना गया है। राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्यभाव रहा है और उन्हें अवतार पुरुष माना गया है। जैनों ने भी चौबीस तीर्थंकरों के साथ-साथ कृष्ण (नवम वासुदेव) को भी तिरसठ शलाका पुरुषों (कर्मभूमि की सभ्यता के आदियुग में अपने धर्मोपदेश तथा चारित्र द्वारा सत्-असत् मार्गों के प्रदर्शक महापुरुषों) में आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणों ("हरिवंशपुराण", "पाण्डवपुराण" (जैन महाभारत), "महापुराण", त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित" आदि) में उनके जीवन चरित्र का सविस्तार वर्णन किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण-परम्परा के कृष्ण जैनों के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के कुल से सम्बद्ध हैं। नेमिनाथ महाभारत-काल में उत्पन्न हुए। आचार्य संघदास गणी (ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती) द्वारा रचित प्राकृत के "बृहत्कथाकल्प", "वसुदेव-हिण्डी" के अनुसार, शौरिपुर के यादववंशी राजा अन्धकवृष्णि के ज्येष्ठ पुत्र हुए समुद्रविजय, जो दस दशार्हों में प्रथम थे। राजा समुद्रविजय से नेमिनाथ, दृढ़नेमि प्रभृति पुत्र उत्पन्न हुए। वसुदेव अन्धक वृष्णि के सबसे छोटे पुत्र (दस दशार्हों में अन्तिम) थे, जिनसे वासुदेव कृष्ण पैदा हुए। इस प्रकार नेमिनाथ और कृष्ण आपस में चचेरे भाई थे। जैसा कि प्रसिद्ध है, जरासन्ध के आतंक से त्रस्त होकर यादव शोरिपुर छोड़कर द्वारका में जा बसे थे। प्रसंगवश ज्ञातव्य है कि "वसुदेवहिण्डी" की कृष्णकथा के आधार पर ही देवेन्द्रसूरि (13वीं शती) ने 1163 गाथाओं में "कृष्णचरित" ग्रन्थ की रचना की। इसमें वसुदेव के जन्म और भ्रमण के वृत्तान्त की भी आवृत्ति है।[2]

"वसुदेवहिण्डी" के तीन प्रमुख अधिकारों "पीठिका", "मुख" और "प्रतिमुख" में कृष्ण और उनके पूर्वजों-वंशजों की कथा परिगुम्फित है। "वसुदेव ने किस प्रकार परलोक में फल प्राप्त किया ? राजा श्रेणिक के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने उनसे कहा कि आप पहले "पीठिका" सुनें, क्योंकि यह वसुदेव के बहुत बड़े (महान) इतिहास के प्रासाद की पीठ (आधारभूमि) है[3] और इसी क्रम में लगातार भगवान् महावीर ने "मुख" और "प्रतिमुख" नामक नातिदीर्घ अधिकारों द्वारा कृष्णकथा से सम्बद्ध पक्षों को भी उद्भावित कर दिया।

उस समय के आनर्त, कुशर्थ (कुशावर्त्त), सुराष्ट्र और शुकराष्ट्र (शुक्रराष्ट्र)-- ये चारों जनपद पश्चिम समुद्र से संश्रित थे। इन जनपदों की अलंकार-स्वरूपा द्वारवती की गणना सर्वश्रेष्ठ नगरी के रूप में होती थी। इस नगरी के बाहर, "नन्दन" वन से परिवृत रैवत नाम का पर्वत था, जो नन्दनवन से घिरे मेरु पर्वत के समान प्रतीत होता था। द्वारवती नगरी का वैभवपूर्ण वर्णन करते हुए संघदासगणी ने लिखा है कि लवणसमुद्र के अधिपति "सुस्थित" नामक देव इस नगरी के मार्गदर्शक थे। कुबेर की बुद्धि से नगरों का निर्माण हुआ था। चारदीवारी सोने की बनी हुई थी। यह नगरी नौ योजन क्षेत्र की चौड़ाई में फैली हुई थी। इसकी लम्बाई बारह योजन थी। वहाँ रत्नों की वर्षा होती थी, इसलिए वहाँ दरिद्र नहीं था। रत्न की कान्ति से वहाँ निरन्तर प्रकाश फैला रहता था। चक्राकार भूमि में उपस्थित वहाँ के हजारों-हजार प्रासाद देव-भवन के समान सुशोभित थे। वहाँ के निवासी विनीत, अतिशय ज्ञानी, मधुरभाषी वा मधुर नामों वाले, दानशील, दयालु, सुन्दर वेश-भूषा वाले और शीलवान् थे। ("वसुदेवहिण्डी, मूल, भावनगर-संस्करण, पृ. 77)

इस प्रकार की द्वारवती नगरी में दस धर्म[4] की तरह दस दशार्ह (यादव) रहते थे। उनके नाम थे-- समुद्रविजय, अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र और वसुदेव। इन दशार्हों के सम्मत राजा उग्रसेन देवों के बीच इन्द्र की तरह विराजते थे। प्रथम दशार्ह राजा समुद्रविजय के यथोक्त नेमि, दृढ़नेमि आदि पुत्र थे।[5] शेष दशार्हों के पुत्र उद्धव आदि थे। अन्तिम दशार्ह वसुदेव के अक्रूर, सारणक, शुभदारक आदि पुत्र थे, जिनमें राम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(बलराम) और कृष्ण प्रमुख थे।

"वसुदेवहिण्डी" में वर्णित कृष्णकथा के अवलोकन से कृष्ण की मानसिक ऊर्जा और शारीरिक ईर्या की अतिशयता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। शारीरिक दृष्टि से भी कृष्ण का व्यक्तित्व बड़ा ही दिव्य और विराट है। वे अंगविद्या में उल्लिखित सभी शारीरिक लक्षणों से सम्पन्न थे। संघदासगणी ने कृष्ण और बलराम की शारीरिक संरचना का चित्रण करते हुए लिखा है-- दोनों भाइयों में बलराम का शरीर निर्जल (उज्ज्वल) मेघ और कृष्ण का शरीर सजल (श्यामल) मेघ की छवि को पराजित करने वाला था, उनकी आंखें सूर्य की किरणों के संस्पर्श से खिले हुए कमलों के समान थीं, उनके मुख पूर्णचन्द्र की भाँति मनोरम और कान्तिमान् थे, उनके अंगों की विस्फूर्जित सन्धियाँ साँप के फन की तरह प्रतीत होती थीं, उनकी बाँहें धनुष की तरह लम्बी और रथ के जुए की भाँति सुकुमार थीं, श्रीवत्स के लांछन से आच्छादित उनके विशाल वक्षःस्थल शोभा के आगार थे, उनके शरीर का मध्य भाग इन्द्रायुध (वज्र) के समान था और नाभिकोष दक्षिणावर्त। उनका कटिभाग सिंह के समान पतला और मजबूत था, उनके पैर हाथी की सूँड के समान गोल और स्थिर थे, उनके घुटने सम्पुटाकार और माँसपेशी से आवृत थे, हरिण की जैसी जंघाओं (घुटने और टखने के बीच का भाग) की शिराएँ माँसलता के कारण, ढकी हुई गूढ शिराओं वाली थीं, उनके चरणतल सम, सुन्दर, मृदुल, सुप्रतिष्ठित और लाल-लाल नखों से विभूषित थे और कानों को सुख पहुँचाने वाली उनकी वाणी की गूँज सजल मेघ के स्वर के समान गम्भीर थी।[6] इस प्रकार, कृष्ण और बलराम की शारीरिक सुषमा नितरां निरवद्य थी। वस्तुतः कृष्ण काम और धर्म के समन्वित रूप थे।

रसमधुर, कलारुचिर एवं सौन्दर्योद्दीप्त कृष्णचरित के प्रतिपादक वैष्णव-सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थों में "श्रीमद्भागवत" अग्रगण्य है। इसमें दार्शनिक विवेचन और धार्मिक चिन्तन, रूपकों और प्रतीकों के आधार पर किया गया है। परन्तु इसमें धर्म-दर्शन की बौद्धिक चेतना के उत्कर्ष के साथ कवित्व या काव्य का प्रौढिप्रकर्ष भी है। इसीप्रकार "वसुदेवहिण्डी", "श्रीमद्भागवत" की भाँति वर्णकथा होते हुए भी काव्यत्व की गरिमा से ओतप्रोत है। किन्तु इस महत्कथा के रचयिता आचार्य संघदासगणी भागवतकार के समान कृष्ण के चरित्र की उद्भावना की दृष्टि से नितान्त रुढ़िवादी नहीं हैं। संस्कृत-साहित्य के धार्मिक युग में भावों और चरित्रों या आचारगत संस्कारों में जहाँ अतिलौकिकता और रूढ़िजन्य परतन्त्रता परिलक्षित होती है, वहाँ प्राकृत-साहित्य का धार्मिक युग अधिकांशतः लौकिक है और चारित्रिक उद्भावना के क्षेत्र में सर्वथा रूढ़िमुक्त और सातिशय स्वतन्त्र भी है।

भागवतकार के नन्द श्रीकृष्ण की शक्ति से विस्मित हैं और यशोदा उनके अलौकिक चरित्र से चकित। किन्तु, "वसुदेवहिण्डी" के कृष्ण इतने अधिक पुरुषार्थी और प्रतिभाशाली महामानव हैं कि द्वारवती जाने के लिए, समुद्र ने उन्हें रास्ता दिया था और कुबेर ने उनके लिए द्वारवती नगरी का निर्माण किया था, साथ ही रत्न की वर्षा भी की थी अर्थात् कृष्ण की मानवी शक्ति के समक्ष दैवी शक्ति नतमस्तक थी।[7] "श्रीमद्भागवत" की तरह अतिरंजित अलौकिक पारमेश्वरी शक्ति की सर्वोपरिता के सिद्धान्त से "वसुदेवहिण्डी" के कृष्ण आक्रान्त नहीं हैं, इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघदासगणी कृष्ण की मानवी भावों के विकास को अधिक दूर तक विस्तृत और व्यापक दिखाने में सफल हुए हैं। ब्राह्मण-परम्परा स्वभावतः ब्रह्मवादी है, इसलिए उसमें मानवीय पुरुषार्थ की अपेक्षा ईश्वरीय शक्ति के चमत्कार या भाग्यवाद को अधिक प्रश्रय दिया गया है और श्रमण परम्परा स्वभावतः श्रम (पुरुषार्थ)-वादी है, इसलिए वह मानवी शक्ति या पुरुषार्थ की अवधारणा के प्रति अधिक आस्थावान है। अतएव "वसुदेवहिण्डी" के कृष्ण परात्पर परब्रह्म न होकर मानवी जीवन और समाज की सर्वसाधारण मान्यताओं के अनुयायी हैं। फलतः जैन कृष्ण के प्रति हम अलौकिक आतंक से ग्रस्त होने की अपेक्षा उनके सामाजिक पुरुषार्थ की प्रेरणा से स्फूर्त हो उठते हैं।

"वसुदेवहिण्डी" के कृष्ण में दिव्य और मानुष भाव का अद्‌भुत् समन्वय हुआ है। इसलिए वह अवतारी या दिव्यपुरुष न होते हुए भी असाधारण कर्मशक्ति से सम्पन्न उत्तम प्रकृति के पुरुष हैं। वह अलग से ईश्वरत्व की प्राप्ति के लिए आग्रहशील नहीं हैं, अपितु स्वतः उनमें ईश्वरीय गुण विकसित हैं। वैष्णवसाधना के क्षेत्र में कृष्ण के भाव और चरित्र दोनों ही अलौकिक हैं, इसलिए वैष्णव-भक्तिकाव्यों में कृष्ण महान नायक के रूप में ब्रह्म हैं और गोपियाँ उनकी नायिकाओं के रूप में जीवात्माएँ हैं। किन्तु, श्रमण-परम्परा की महार्घ कथाकृति "वसुदेवहिण्डी" के कृष्ण केवल महान् नायक हैं और अपनी पत्नियों और पुत्रों एवं वृद्ध कुलकरों और मित्र-राजाओं के प्रति बराबर दाक्षिण्य भाव से काम लेते हैं। वह हिंसा एवं युद्ध को भी व्यर्थ समझते हैं। वह प्रतिरक्षात्मक आक्रमण तभी करते हैं, जब उसके लिए उन्हें विवश होना पड़ता है। पद्मावती, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती और रुक्मिणी को पत्नी के रूप में अधिगत करते समय विवशतावश ही उन्हें युद्ध और हत्या का सहारा लेना पड़ा है। अपने पुत्र शाम्ब की धृष्टता और उद्दण्डता पर खीझ कर ही उन्होंने उसे निर्वासन दण्ड दिया। इतना ही नहीं उनका यक्षाधिष्ठित आयुधरत्न सुदर्शन चक्र भी शत्रु का ही संहार करता है, किन्तु अपने स्वामी के बन्धुओं का तो वह रक्षक है-- " आउहरयणाणं एस धम्मो -- "सत्तू विवाडेयव्वो, बन्धू रक्खियव्वो सामिणो त्ति।" (पृ. 96)

"वसुदेवहिण्डी" में कृष्णचरित के साथ न तो धार्मिक अलौकिक भावना का सामंजस्य हो सका है, न ही कृष्ण को साधारण नायक के रूप में स्वीकारा जा सका है। ऐसी स्थिति में, "वसुदेवहिण्डी" के कृष्ण पुरुषोत्तम युद्धवीर दाक्षिण नायक हैं।[8] इस आदर्श भावना के परिणामस्वरूप ही संघदासगणी ने कृष्ण के चरित्र में रूप-परिवर्तन आदि अलौकिक शक्ति की सम्भावना के साथ ही उनकी सामन्तवादी प्रवृत्ति को स्वीकृति दी और उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में लोक-कल्याण की भावना का भी विनियोग किया। इस प्रकार "वसुदेवहिण्डी" का कृष्णकथा-प्रसंग प्रायः सभी प्रकार से औचित्य की सीमा में ही परिबद्ध है।

संघदासगणी हृदय से तीर्थंकरों या शलाकापुरुषों के भक्त होते हुए भी वैचारिक दृष्टि से समकालीन सामाजिक प्रवृत्ति और प्रगति से पूर्ण परिचित हैं। उनका कथाकार भक्ति भावना के आवेश में कभी नहीं आता। इसलिए उन्होंने कृष्ण की कथा को राधा के प्रेमाश्रु के अतिरेचन से सदामुक्त रखा है। वे यथार्थवादी कथाकार हैं। वे न तो भक्ति और ज्ञान के तर्कों में उलझे हैं, न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही उन्होंने प्रेमग्रन्थि को सुलझाने में अपनी प्रतिभा का व्यय करना उचित समझा है। वे कभी-कभी रतिचतुर कृष्ण की कामकथा में इतने अधिक तल्लीन हो गये हैं कि उस सीमा पर उन्होंने धार्मिक भावना को भी विस्मृत कर दिया है। फलतः कृष्ण रतिकालीन साधारण नायक हो गये हैं और उनकी मानुषी और विद्याधरी पत्नियाँ साधारण नायिकाएँ। इस सन्दर्भ में पुत्र प्राप्ति के लिए कृष्ण के साथ समागम-सुख को चाहने वाली सत्यभामा और जाम्बवती की अहमहमिका या प्रतिस्पर्धा का पूरा का पूरा प्रसंग कृष्ण के लीला-वैचित्र्य की दृष्टि से पर्याप्त रुचिकर है। हाँलाकि "वसुदेवहिण्डी" के कृष्ण लीला पुरुष नहीं हैं, अपितु, वह सत्यभामा, रुक्मिणी और जाम्बवती इन प्रमुख तीनों पत्नियों (शेष पद्मावती आदि पत्नियां गौण हैं, गिनती के लिए हैं, कृष्ण के जीवन में उनकी कोई भी विशिष्ट भूमिका नहीं है) के सपत्नीत्व को पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष तथा उपालम्भजनित क्रोध एवं एक-दूसरे को नीचा दिखाने की अप्रीतिकर भावनाओं को द्वन्द्विल स्थिति के सातह्य को झेलते हैं, साथ ही प्रद्युम्न (रुक्मिणीप्रसूत), शाम्ब (जाम्बवती-प्रसूत) और भानु (सत्यभामा-प्रसूत) -- इन तीनों पुत्रों के बीच पारस्परिक क्रीड़ा-विनोद के क्रम में उत्पन्न अवांछित कटुता, उद्दण्डता और धृष्टता का घर्षण भी वह स्वयं उठाते हैं। सबसे बड़ी चिन्ता की बात तो उनके लिए यह है कि ये तीनों पुत्र अपनी माताओं के हृदय में प्रतिक्षण प्रज्ज्वलित सपत्नीत्व का प्रतिशोध भी परस्पर एक-दूसरे की माताओं से लेने में नहीं हिचकते। प्रद्युम्न और शाम्ब तो सत्यभामा और उसके पुत्र भानु के पीछे हाथ धोकर पड़े रहते हैं और सत्यभामा को ऊबकर कृष्ण से कहना पड़ता है कि "शाम्ब आपके दुलार के कारण मेरे बेटे को जीने नहीं देगा, इसलिए उसे मना कीजिए। ...मैं तो अपने बेटे का खिलौना हो गई हूँ। अब मेरा जीना व्यर्थ है। "यह कहकर वह अपनी जीभ खींचकर आत्महत्या के लिए उद्धत हो जाती है और तब श्री कृष्ण उसे बड़ी कठिनाई से रोकते हैं और उसे आश्वस्त करते हैं-- "कल मैं उस अविनीत को दण्ड दूँगा, तुम विश्वास करो।" 9

एक बार तो स्वयं श्रीकृष्ण ने ही सत्यभामा को बुरी तरह छकाया। प्रतिमा जैसी सुन्दरी रुक्मिणी को श्रीदेवी की प्रतिमा-पीठिका पर मूर्तिवत् निश्चल खड़ी कराकर उसे सत्यभामा से, धोखे में डालकर, प्रणाम करवाया। कृष्ण के ही छल-छद्म के कारण, एक बार शाम्ब ने अपनी माता जाम्बवती को छाँछ बेचने वाली सामान्य ग्वालिन समझकर रिरंसावश उसका हाथ पकड़ लिया। फलतः जाम्बवती और शाम्ब बुरी तरह छके। एक बार प्रद्युम्न ने तो अपने दादा वसुदेव का रूप बदलकर अपनी दादियों को छकया यहाँ तक कि वह कृष्ण एवं रुक्मिणी को भी छकाने से बाज नहीं आया है। सत्यभामा द्वारा प्रेषित नाइयों और यादववृद्धों की तो उसने दुर्दशा ही कर दी। इस प्रकार संघदासगणी ने कृष्ण को उनके अपने परिवार के बीच हो एक अजीब गोरखधन्धे में उलझा हुआ प्रदर्शित किया है। कहना न होगा कि संघदासगणी द्वारा चित्रित कृष्णचरित्र लोक जीवन की मनोरेजकता और रुचिवैचित्र्य की दृष्टि से अन्यत्र दुर्लभ है। यह कृष्ण चरित्र की दैवी सबलता और मानुषी दुर्बलता के अद्भुत सामंजस्य का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"वसुदेवहिण्डी" के कृष्ण न तो अर्जुनमोहविनाशिनी गीता के वक्ता श्रीकृष्ण हैं न ही पाण्डवों के सखा तथा सलाहकार महाराज कृष्ण, जो डॉ. याकोबी के शब्दों में "अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए चाहे जिस किसी उपाय का अवलम्बन कर लेते थे।" इसके अतिरिक्त, वह "गोपीवल्लभ" या "गोप-गोपीजनप्रिय" भी नहीं हैं, जिनकी बाललीला या गोपीक्रीड़ा के वर्णनों से "महाभारत" के साथ ही "विष्णु-पुराण", "श्रीमद्भागवत", "हरिवंश", पद्मपुराण", "ब्रह्मवैवर्तपुराण" एवं "ब्रह्म, वायु, अग्नि, लिंग और देवीभागवत पुराण मुखरित हैं। संघदासगणी के कृष्ण का व्यक्तित्व ही कुछ दूसरा है। कृष्ण के व्यक्तित्व की विभिन्नता के सम्बन्ध में डॉ. विण्टरनित्ज ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है "पाण्डवों के सखा और सलाहकार भागवद्गीता के सिद्धान्त के प्रचारक, बाल्यकाल में दैत्यों का वध करने वाले वीर, गोपियों के वल्लभ तथा भगवान् विष्णु के अवतार श्री कृष्ण एक ही व्यक्ति थे, इस बात पर विश्वास होना बहुत ही कठिन है।"[10] संघदासगणी ने भी श्रीकृष्ण के वैष्णव परम्परा में चित्रित व्यक्तित्व की विपुलता पर विश्वास न करके उन्हें एक स्वतन्त्र लोकविश्वसनीय व्यक्तित्व प्रदान किया है। कृष्ण की बाललीला का जहाँ तक प्रश्न है, संघदासगणी ने भी अपने ग्रन्थ के अन्त में उसका आभास-मात्र दिया है। उन्होंने केवल इतना ही लिखा है कि कृष्ण के विनाश के लिए कंस ने कृष्णायक्ष के अतिरिक्त, गधे, घोड़े और बैल को भेजा। वे गोकुलवासियों को पीड़ा पहुँचाने लगे लेकिन, कृष्ण ने उनका विनाश कर दिया।[11] हाँलाकि कृष्ण ने ऐसा साहस और शौर्य तब दिखलाया है, जब वह प्रायः युवा हो गये हैं। इससे स्पष्ट है कि महाभारत या विभिन्न पुराणों या फिर जैनवांड्मय के ग्रन्थों में वर्णित श्रीकृष्ण-चरित्र में तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से न्यूनाधिक अन्तर कहीं-कहीं भले हो, परन्तु कथा का मुख्य विषय सर्वत्र एक ही है।

संघदासगणी के कृष्णचरित्र पर "महाभारत" के कृष्णचरित्र का प्रभाव परिलक्षित होता है। महाभारत में कृष्ण का राजनीतिज्ञ के रूप में बहुत ही सम्मानपूर्वक वर्णन किया गया है। वास्तविक स्थिति यह थी कि कृष्ण के वंश में, यादवों में भिन्न-भिन्न कुल थे, जिनमें अन्धकवृष्णि प्रधान थे। अन्धकवृष्णि कुल में गणतान्त्रिक शासन-प्रणाली प्रचलित थी, जिसके प्रधान पद पर राजा उग्रसेन प्रतिष्ठित थे। इस गणसंघ के सदस्य समय-समय पर आपस में लड़ा करते थे और उनके बीच सौहार्द स्थापित कर राज्य चलाना निश्चय ही गुरुतर कार्य था। कृष्ण ने अपनी विषम राजनीतिक स्थिति का वर्णन करते हुए नारद से कहा है-- "नाम तो मेरा ईश्वर है, किन्तु अपने जाति भाइयों की नौकरी करता हूँ। भोग तो आधा ही मिलता है, परन्तु गालियाँ खूब मिलती हैं। जैसे-- आग जलाने की इच्छा से लोग अरणि के काष्ठ का मन्थन करते हैं, वैसे ही ये सम्बन्धी गालियों से मेरा हृदय मथा करते हैं। मेरे जेठे भाई बलराम अपने बल के अभिमान में चूर रहते हैं। ...मेरे ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न को रूप के मद की बहोशी रहती है। फलतः मैं एकदम असहाय हूँ। मेरे भक्त आहुक और अक्रूर सदा लड़ा करते हैं। इनके मारे मेरी नाकों में दम है। मेरी दशा जुआड़ी की उस माता के समान है, "जो चाहती है कि मेरे दोनों जुआड़ी पुत्रों में एक तो जीते, परन्तु दूसरा हारे भी नहीं।" 12

कहने का तात्पर्य है कि कृष्ण निरन्तर अपने जातियों के परस्पर कलह को सुलझाने में ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहर्निश व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। संघदासगणी ने इसी आधार पर कृष्ण के जीवन के केवल प्रौढ़काल का ही चित्र उपस्थित किया है। फिर भी कृष्ण के उत्तम व्यक्तित्व का महान उत्कर्ष यही है कि वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में यशस्वी तथा प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। इसलिए कृष्णकथा के विकास और विस्तार की परम्परा में "महाभारत" और पुराणों के साथ-साथ "वसुदेवहिण्डी" का समानान्तर अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

ज्ञातव्य है कि "वसुदेवहिण्डी" की कृष्णकथा का व्यापक प्रभाव परवर्ती जैन कृष्णकथाओं पर भी विविध रूपों में पड़ा है, जिसकी विकास-सीमा अपभ्रंशकवि पुष्पदन्त (10वीं शती) के महापुराण तक फैली हुई दिखाई पड़ती है।

* पी. एन. सिन्हा कालोनी, भिखनापहाड़ी, पटना-6.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

1. "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" (सत्रहवाँ पुनर्मुद्रण), नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, पृ. 112
2. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य -- "भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान", डॉ. हीरालाल जैन, पृ. 142
3. मूल सम्बन्धी विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य -- डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव कृत "वसुदेवहिण्डी" का मूल सह हिन्दी अनुवाद, प्र. पं. रामप्रताप शास्त्री चेरिटेबुल ट्रस्ट, ब्यावर (राजस्थान)।
4. उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।
5. तुलनीय : उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 221
6. तेसिं च पहाणा राम-कण्हा निज्जल-सजलजलदच्छविहरा, दिवसयरकिरण-संगमावबुद्धपुंडरीयनयणा, गहवइसंपुण्णसम्मतरवयणचंदा, भुयंगभोगोवमाणसुसित ट्ठसंघी, दीहघणुरहजुग्गवाद, पसत्थलक्खणंकिय-पल्लवसुकुमालपाणिकमला, सिद्धिच्छुत्थइय-विउलसिरिणित्तय सुरेसरामुध्धतरिच्छमज्झा, पयाहिणावत्तनाहिकोसा, मद्यपत्थिव त्थिमिय संठियकठीं, करिकरसरिसथिर-वट्टतोरु, सामुग्गणिभुग्गजाणुदेसा, गूढसिर-हरिणजंघा समाहिय-सम-सुपइट्ठिय-तणु-तंबनस्वचलपा, तसलिलजल दक्खगहिर--सवणसुहरिभितवाणी, पृ. 77
7. समुद्ददेण किर से मागो दिण्णो, धणदेण णथरी णिम्मिया बारवती, रथणवरिसं च बुट्ठं, पृ. 80
8. एषुत्वनेकमहिलात्तमरागो दक्षिणः कथितः। -- साहित्यदर्पण, 3135।
9. सुयं य सच्चभामाए, विण्णविओ कण्हो रोवतीए-- "संबो तुज्झच्चएण वल्लभवाएण ण देइ में दारयस्स जीतिउं, निवारिज्जउ जइ तीरइ। ... अहं पुत्तभंडाण खेल्लावणिया संवुत्ता, किं मे जीविएणं ? "ति जीहं पक्कड्ढिया। कहिंचि निवारिया य [illegible] य कण्हेण-- "देवि ! अविणीवस्त्र लल्लं काहं निग्गहं, वीसत्था भवसु त्ति", पृ. 106-107
10. विशेष द्रष्टव्य-- "भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा", पं. बलदेव उपाध्याय, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ. 32।
11. परिवड्ढइ वए। ततो कंसेण विणासकए कण्हं आसंकमाणेण य कसिणयक्खा आदिट्ठा पत्ता नंदगोवगोडोट्ठे। विसज्जिया खर-तुरय-बसहा। ते य जण मीलेंति। कण्हेण य विणासिया, पृ. 369-370।
12. द्रष्टव्य-- महाभारत, शान्तिपर्व, अ. 81, श्लोक 5-11।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मडाहडागच्छ का इतिहास : एक अध्ययन

- *शिवप्रसाद*

निर्ग्रन्थ परम्परा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्तर्गत चन्द्रकुल से उद्भूत गच्छों में बृहद्गच्छ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह गच्छ विक्रम सम्वत् की 10वीं शतीं में उद्भूत माना जाता है। उद्योतनसूरि, सर्वदेवसूरि आदि इस गच्छ के पुरातन आचार्य माने जाते हैं।[1] अन्यान्य गच्छों की भाँति इस गच्छ से भी समय-समय पर विभिन्न कारणों से अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं का जन्म हुआ और छोटे-छोटे कई गच्छ अस्तित्व में आये। **बृहद्गच्छ गुर्वावली**[2] [रचनाकाल वि.सं. 1620] में उसकी अन्यान्य शाखाओं के साथ मडाहडाशाखा का भी उल्लेख मिलता है। यही शाखा आगे चलकर मडाहडागच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुई। प्रस्तुत निबन्ध में इसी गच्छ के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

जैसा कि इसके अभिधान से स्पष्ट होता है मडाहडा नामक स्थान से यह गच्छ अस्तित्त्व में आया होगा। मडाहडा की पहचान वर्तमान मडार नामक स्थान से की जाती है जो राजस्थान प्रान्त के सिरोही जिले में डीसा से चौबीस मील दूर ईशानकोण में स्थित है।[3] चक्रेश्वरसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। यह गच्छ कब और किस कारण से अस्तित्त्व में आया, इस बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। अन्य गच्छों की भाँति इस गच्छ से भी कई अवान्तर शाखाओं का जन्म हुआ। विभिन्न साक्ष्यों से इस गच्छ की रत्नपुरीयशाखा, जाखड़ियाशाखा, जालोराशाखा आदि का पता चलता है।

मडाहडगच्छ से सम्बद्ध साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध हैं, किन्तु अभिलेखीय साक्ष्यों की तुलना में साहित्यिक साक्ष्य संख्या की दृष्टि से स्वल्प हैं साथ ही वे 16वीं शताब्दी के पूर्व के नही हैं। अध्ययन की सुविधा के लिये तथा प्राचीनता की दृष्टि से पहले अभिलेखीय साक्ष्यों तत्पश्चात् साहित्यिक साक्ष्यों का विवरण प्रस्तुत है।

अभिलेखीय साक्ष्य -- इस गच्छ से सम्बद्ध पर्याप्त संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त हुए हैं जो वि.सं. 1287 से लेकर वि.सं. 1787 तक के हैं। इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्र. सं.	प्रतिष्ठावर्ष	तिथि	प्रतिष्ठापक आचार्य या मुनि का नाम	प्रतिमालेख परिकर लेख	प्रतिष्ठास्थान	सन्दर्भ-ग्रन्थ
1.	1287	मार्गशीर्ष सुदि 6 सोमवार	-	चबूतरे पर उत्कीर्णलेख	महारदेवी का मन्दिर, महार	मुनिजयंतविजय, संपा. अर्बुदाचल-प्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह, लेखांक 66
2.	1335	माघ सुदि 13 शुक्रवार	चक्रेश्वरसूरिसंतानीय सोमप्रभसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	नेमिनाथ जिनालय, कुंभारिया	मुनिविशालविजय, संपा. आरासणातीर्थ, लेखांक 30
3.	1335	मितिविहीन	"	-	पल्लवियापार्श्वनाथ जिनालय, पालनपुर	मुनिजिनविजय, संपा. प्राचीनजैनलेखसंग्रह भाग 2, लेखांक 550
4.	1351	-	रत्नाकरसूरि के पट्टधर सोमतिलकसूरि	महावीर की प्रतिमा पर उत्कीर्णलेख	शीतलनाथ जिनालय उदयपुर	पूरनचन्दनाहर, संपा. जैनलेखसंग्रह भाग 2, लेखांक 1046
5.	1358	मितिविहीन	आनन्दप्रभसूरि	आदिनाथ की की प्रतिमा पर उत्कीर्णलेख	चन्द्रप्रभ जिना. जैसलमेर	वही, भाग 3, लेखांक 2242
6.	1362	वैशाख	पासदेवसूरि	महावीर की प्रतिमा पर उत्कीर्णलेख	अनुपूर्तिलेख, आबू	मुनिजयन्तविजय, संपा. अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह, लेखांक 539

7.	1366	मितिविहीन	आनन्दप्रभसूरि	-	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	अगरचन्दनाहटा, संपा. बीकानेरजैनलेखसंग्रह, लेखांक 235
8.	1367	वैशाखसुदि 9	चन्द्रसिंहसूरि के शिष्य रविकरसूरि	आदिनाथ की धातुप्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	भीलडियातीर्थ चैत्य, थराद	दौलतसिंह लोढा, संपा. श्रीप्रतिमालेखसंग्रह, लेखांक 334
9.	1367	आषाढसुदि 3 रविवार	आणंदप्रभसूरि	"	चिन्तामणिजी का	नाहटा, पूर्वोक्त, मन्दिर, बीकानेर लेखांक 237
10.	1371	मितिविहीन	आनन्दसूरि के पट्टधर हेमप्रभसूरि	"	"	वही, लेखांक 249
11.	1371	"	यशोदेवसूरि के पट्टधर शांतिसूरि	महावीर की प्रतिमा का लेख	अनुपूर्तिलेख, आबू	अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह आबू, भाग 2, लेखांक 543
12.	1373	"	शांतिसूरि	परिकर का लेख लेख	मडारदेवी का मन्दिर, मडार	अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह आबू, भाग 5, लेखांक 71
13.	1379	"	-	आदिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 281

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

14.	1381	वैशाख वदि 8 गुरुवार	हेमसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	अनूपूर्तिलेख, आबू	मुनिजयन्तविजय, संपा. आबू, भाग 2, लेखांक 551
15.	1386	-	सर्वदेवसूरि	"	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 316
16.	1387	-	चक्रेश्वरसूरिसंतानीय पद्मचन्द्र के शिष्य जयचन्द के शिष्य यशोदेव के शिष्य शांतिसूरि	यशोदेवसूरि की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	पंचासरापार्श्वनाथ जिनालय, पाटण	मुनिजिनविजय, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 508
17.	1387	-	हेमप्रभसूरि के पट्टधर सर्वदेवसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मंदिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 321
18.	1389	फाल्गुन सुदि 8 सोमवार	रत्नसागरसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	अनुपूर्तिलेख, आबू	मुनिजयन्तविजय, आबू, संपा. भाग 2, लेखांक 558
19.	1389	-	धर्मदेवसूरि के पट्टधर देवसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक 559

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

20.	1389	-	रत्नाकरसूरि के पट्टधर सोमतिलकसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	अरनाथ जिनालय, जीरारवाडो, खंभात	मुनि बुद्धिसागर, संपा. जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह भाग 2, लेखांक 768
21.	1393	ज्येष्ठ वदि 11 शुक्रवार	सोमतिलकसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 356
22.	1392	-	सर्वदेवसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक 348
23.	1404	वैशाखवदि 1 शनिवार	मुनिप्रभसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक 404
24.	1411	ज्येष्ठ 12 शनिवार	माणिक्यसूरि के पट्टधर मानदेवसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ मुख्यबावन जिनालय, मातर	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 460
25.	1413	-	पासदेवसूरि	महावीर की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 431
26.	1415	ज्येष्ठ वदि 13 रविवार	मानदेवसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक 434

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

27.	1420	वैशाख सुदि 10 बुधवार	पूर्णचन्द्रसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	अनुपूर्तिलेख, आबू	मुनिजयन्तविजय, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 575
28.	1423	फाल्गुन सुदि 9	उदयप्रभसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 462
29.	1435	माघ वदि 12	उदयप्रभसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ मुख्य बाबन जिनालय, मातर	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 463
30.	1436	वैशाख वदि 11 सोमवार	विजयसिंहसूरि	आदिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	अनुपूर्तिलेख, आबू	मुनिजयन्तविजय, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 595
31.	1437	"	सोमचन्द्रसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, आबू	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 529
32.	1440	पौष सुदि 12	"	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	अनुपूर्तिलेख, आबू	मुनिजयन्तविजय, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 536
33.	1441	फाल्गुन वदि 2 रविवार	मुनिप्रभसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 544

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

34.	1441	वैशाख सुदि 3 सोमवार	पूर्णचन्द्रसूरि के पट्टधर हरिभद्रसूरि	"	अनुपूर्तिलेख, आबू	मुनिजयन्तविजय, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 599
35.	1445	-	सोमप्रभसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 549
36.	1446	वैशाख वदि 3 सोमवार	मुनिप्रभसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	अनुपूर्तिलेख, आबू	मुनिजयन्तविजय, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 602
37.	1454	चैत्र वदि 15	-	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 588
38.	1454	आषाढ़ सुदि 5 गुरुवार	मुनिप्रभसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक 2346
39.	1457	आषाढ़ सुदि 5 गुरुवार	"	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	वही, लेखांक 580
40.	1459	चैत्र सुदि 15 सोमवार	सोमचन्द्रसूरि	पद्मप्रभ की प्रतिमा	"	वही, लेखांक 589

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

				का लेख		
41.	1461	ज्येष्ठ सुदि 10 शुक्रवार	मुनिप्रभसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	-	वही, लेखांक 2497
42.	1462	वैशाख सुदि 5 शुक्रवार	हरिभद्रसूरि	आदिनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	वरिचैत्यान्तर्गत-वासुपूज्यचैत्य, थराद	लोढा, पूर्वोक्त, लेखांक 103
43.	1473	वैशाख सुदि 1	मुनिप्रभसूरि	अभिनन्दननाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथजिनालय, बूँदी	विनयसागर, संपा. प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक 210
44.	1480	फाल्गुन सुदि 10 बुधवार	"	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 700
45.	1481	वैशाख सुदि 3 शनिवार	उदयप्रभसूरि	चन्द्रप्रभ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शीतलनाथ जिनालय, उदयपुर	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक 126
46.	1481	"	"	अभिनन्दनस्वामी की धातु प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, हैदराबाद	नाहर, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 2049
47.	1482	माघ सुदि 5 सोमवार	ज्ञानचन्द्रसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 515

				का लेख		
48.	1482	"	"	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक 516
49.	1482	माघ सुदि 5 सोमवार	"	"	"	वही, लेखांक 517
50.	1482	माघ सुदि 5 सोमवार	"	"	"	वही, लेखांक 519
51.	1492	वैशाख सुदि 2 बुधवार		"	"	" वही, लेखांक 758
52.	1492	मार्गशीर्ष वदि 4 गुरुवार	मुनिप्रभसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख	-	वही, लेखांक 1515
53.	1495	ज्येष्ठ सुदि 14 बुधवार	मतिप्रभसूरि	संभवनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	धर्मनाथजिनालय, राधनपुर	मुनिविशालविजय, संपा. राधनपुरप्रतिमालेखसंग्रह, लेखांक 125
54.	1497	ज्येष्ठ सुदि 2 सोमवार	मुनिप्रभसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख	-	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 1894
55.	14--	-	मुनिप्रभसूरि	महावीरस्वामी की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 817

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

56.	1501	वैशाख सुदि 3 शनिवार	गुणसागरसूरि	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक 840
57.	1504	फाल्गुन सुदि 8 गुरुवार	वीरभद्रसूरि के पट्टधर नयचन्द्रसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक 886
58.	1505	फाल्गुन वदि 9 सोमवार	"	मुनिसुव्रत की प्रतिमा का लेख	"	वही, लेखांक 896
59.	1507	माघ सुदि 5 रविवार	नयकीर्तिसूरि	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	जैनमन्दिर, जूनावेड़ा, मारवाड़	नाहर, पूर्वोक्त, भाग 1, लेखांक 922
60.	1508	चैत्र सुदि 8 बुधवार	हीराणंदसूरि के पट्टधर गुणसागरसूरि	सुविधिनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	संभवनाथजिनालय, देशनोंक, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 2217
61.	1509	आषाढ़ वदि 9 गुरुवार	नयणचन्द्रसूरि	"	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	वही, लेखांक 930
62.	1520	आषाढ़ सुदि 2 गुरुवार	हरिभद्रसूरि के शिष्य	पार्श्वनाथ पंचतीर्थी	अजितनाथजिनालय, सिरोही	अगरचन्दनाहटा - "मडाहडागच्छ की कालकाचार्यकथा की प्रशस्ति"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

			कमलप्रभसूरि	का लेख		जैनसत्यप्रकाश, वर्ष 20, अंक 2, पृ. 48
63.	1525	माघ वदि 6	विजयचन्द्रसूरि	शीतलनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ जिनालय, जयपुर	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक 672
64.	1527	वैशाख सुदि 3 सोमवार	नयचन्द्रसूरि	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथजिनालय, नागौर	नाहर, पूर्वोक्त, भाग 2, लेखांक 1276
65.	1532	वैशाख वदि 5 रविवार	चक्रेश्वरसूरि के संतानीय कमलप्रभसूरि के शिष्य...?	कुंथुनाथ की प्रतिमा का लेख	-	नाहटा, पूर्वोक्त लेखांक 1073
66.	1535	माघ वदि 5 मंगलवार	वरिभद्रसूरि के शिष्य नयचन्द्रसूरि	नमिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	चन्द्रप्रभजिनालय, केंकड़ी	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक 788
67.	1535	"	"	शांतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथजिनालय, सांथा	वही, लेखांक 789
68.	1542	फाल्गुन वदि 2 शनिवार	"	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	सेठ थीरूशाह का	नाहर, पूर्वोक्त, देरासर, जैसलमेर भाग 3, लेखांक 2456
69.	1542	"	"	पद्मप्रभ की पंचतीर्थी	पद्मप्रभजिनालय, घाट, जयपुर	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक 831

				प्रतिमा का लेख		
70.	1545	ज्येष्ठ वदि 11 रविवार	"	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	-	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 1110
71.	1559	पौष वदि 4 गुरुवार	मतिसुन्दरसूरि	वासुपूज्य की धातु की प्रतिमा का लेख	जैनमन्दिर, चैलपुरी, दिल्ली	नाहटा, पूर्वोक्त, भाग 1, लेखांक 496
72.	1583	ज्येष्ठ सुदि 9 शुक्रवार	गुणकीर्तिसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, हीराबाड़ी, नागौर	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक 972
72A.	1592	आषाढ़ वदि	दयाहरसूरि			नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक 2483
73.	1594	वैशाख सुदि 7 बुधवार	नाणचन्द्रसूरि (ज्ञानचन्द्रसूरि)	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख		वही, लेखांक 1145
74.	1620	आश्विन वदि 4 सोमवार	भट्टारक श्री माणिक्य...	"	विमलवसही, आबू	मुनिजयन्तविजय, पूर्वोक्त भाग 2, लेखांक 64
75.	1728	वैशाख सुदि 11	-	-	लूणवसति, आबू	वही, भाग 2, लेखांक 294
76.	1771	वैशाख सुदि 3	-	मडारदेवी के मन्दिर में उत्कीर्ण	मडारदेवी का	वही, भाग 5, लेखांक 101 मन्दिर, मडार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

77.	1787	माघ सुदि 5	भट्टारक चक्रेश्वरसूरि एवं भट्टारक देवचन्द्रसूरि	एक चरणचिन्ह पर उत्कीर्ण लेख मन्दिर में	महारदेवी के उत्कीर्णलेख	" वही, भाग 5, लेखांक 104
78.	1787	माघ सुदि 5 रविवार	चक्रेश्वरसूरि	धातुप्रतिमालेख	धर्मनाथजिनालय, महार	वही, भाग 5, लेखांक 103

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के विभिन्न मुनिजनों के नामों का पता चलता है, किन्तु उसके आधार पर उनके गुरु-शिष्य परम्परा की कोई विस्तृत तालिका की संरचना कर पाना तो सम्भव नहीं है। फिर भी कुछ मुनिजनों की गुरु-परम्परा की छोटी-छोटी गुर्वावलियों की संरचना की जा सकती है, जो इस प्रकार है --

चक्रेश्वरसूरि	चक्रेश्वरसूरि
।	।
।	।
।	।
।	।
।	।
।	।
।	।
पद्मचन्द्रसूरि	जयसिंहसूरि
।	।
जयचन्द्रसूरि	सोमप्रभसूरि
।	।
यशोदेवसूरि	वर्धमानसूरि [वि.सं. 1335 प्रतिमालेख]
।	
शांतिसूरि [वि.सं. 1370-87 प्रतिमालेख]	

?
।
मानदेवसूरि
।
सोमचन्द्रसूरि [वि.सं. 1437-59 प्रतिमालेख]
।
ज्ञानचन्द्रसूरि [वि.सं. 1493 प्रतिमालेख]

साहित्यिक साक्ष्य

मडाहडगच्छ से सम्बद्ध प्रथम साहित्यिक साक्ष्य है **कालिकाचार्यकथा** की 9 श्लोकों की **दाताप्रशस्ति**[4]। यह प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के संग्रह में संरक्षित है। इस प्रशस्ति के प्रथम 6 श्लोकों में सितरोहीपुर (वर्तमान सिरोही, राजस्थान) निवासी श्रावक तिहुणा-महुणा के पूर्वजों का उल्लेख है। अन्तिम तीन श्लोकों में उक्त श्रावक द्वारा लक्षभूपति [राणालाखा अपरनाम राणालक्षसिंह[5] वि.सं. 1461-1476/ईस्वी सन् 1405-1420] के शासनकाल में मडाहडगच्छीय आचार्य कमलप्रभसूरि के शिष्य वाचनाचार्य गुणकीर्ति को कल्पसूत्र के साथ उक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ की एक प्रति भेंट में देने का उल्लेख है।

मडाहडगच्छीय अभिलेखीय साक्ष्यों की पूर्व प्रदर्शित सूची [लेख क्रमांक 62, वि.सं. 1520] में हरिभद्रसूरि के शिष्य कमलप्रभसूरि का नाम आ चुका है। यद्यपि एक मुनि या आचार्य का नायकत्त्वकाल सामान्य रूप से 30-35 वर्ष माना जाता है, किन्तु कोई-कोई मुनि और आचार्य दीर्घजीवी भी होते हैं, इसी कारण स्वाभाविक रूप से उनका नायकत्त्वकाल सामान्य से कुछ अधिक अर्थात् 40-45 वर्ष का होता रहा। अतः वि.सं. की 15वीं शताब्दी के तृतीय चरण में भी इन्हीं कमलप्रभसूरि का विद्यमान होना असंभव नहीं लगता। इसलिए उक्त प्रतिमालेख [वि.सं. 1520] में उल्लिखित धनप्रभसूरि के गुरु कमलप्रभसूरि उपरोक्त **कालिकाचार्यकथा** के प्रतिलेखन की दाताप्रशस्ति [लेखनकाल वि.सं. 1461-1476] में उल्लिखित कमलप्रभसूरि से अभिन्न माने जा सकते हैं।

श्री अगरचन्द नाहटा ने अपनी सिरोही यात्रा के समय वहाँ स्थित मडाहडगच्छीय उपाश्रय में रहने वाले एक महात्मा-गृहस्थ कुलगुरु से ज्ञात इस गच्छ के मुनिजनों की एक नामावली प्रकाशित की है[6], जो इस प्रकार है :

1. चक्रेश्वरसूरि
2. जिनदत्तसूरि
3. देवचन्द्रसूरि
4. गुणचन्द्रसूरि
5. धर्मदेवसूरि
6. जयदेवसूरि
7. पूर्णचन्द्रसूरि
8. हरिभद्रसूरि
9. कमलप्रभसूरि
10. गुणकीर्तिसूरि
11. दयानन्दसूरि
12. भावचन्द्रसूरि
13. कर्मसागरसूरि
14. ज्ञानसागरसूरि
15. सौभाग्यसागरसूरि
16. उदयसागरसूरि
17. देवसागरसूरि
18. लालसागरसूरि
19. कमलसागरसूरि
20. हरिभद्रसूरि
21. वागसागरसूरि
22. केशरसागरसूरि
23. भट्टारकगोपालजी
24. यशकरणजी
25. लालजी
26. हुकमचन्द
27. इन्द्रचन्द
28. फूलचन्द
29. रतनचन्द
30. ....

श्री नाहटा द्वारा प्रस्तुत उक्त नामावली में गच्छ के प्रवर्तक या आदिम आचार्य के रूप में चक्रेश्वरसूरि[7] का उल्लेख है। अभिलेखीय साक्ष्यों से भी यही संकेत मिलता है क्योंकि कुछ प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक आचार्य को चक्रेश्वरसूरि संतानीय कहा गया है। नामावली में उल्लिखित द्वितीय पट्टधर जिनदत्तसूरि, तृतीय पट्टधर देवचन्द्र और चतुर्थ पट्टधर गुणचन्द्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के बारे में किन्हीं अन्य साक्ष्यों से कोई सूचना नहीं मिलती। पंचम पट्टधर धर्मदेवसूरि से लेकर अष्टम पट्टधर हरिभद्रसूरि तक के नाम अभिलेखीय साक्ष्यों में भी मिल जाते हैं तथा नवें पट्टधर कमलप्रभसूरि का साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों साक्ष्यों में उल्लेख मिलता है। उक्त नामावली के अन्य मुनिजनों के बारे में (ज्ञानसागर को छोड़कर) किन्हीं अन्य साक्ष्यों से कोई जानकारी नहीं मिलती। (जय) देवसूरि, पूर्णचन्द्रसूरि और हरिभद्रसूरि का नाम अभिलेखीय साक्ष्यों में भी मिलता है परन्तु उनके बीच गुरु-शिष्य सम्बन्धों का ज्ञान उक्त नामावली से ही हो पाता है। इस दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है।

चक्रेश्वरसूरि
|
|
|
|
धर्मदेवसूरि
|
(जय)देवसूरि
|
पूर्णचन्द्रसूरि
|
हरिभद्रसूरि
|
कमलप्रभसूरि [वि.सं. 1520 में सिरोही के अजितनाथ जिनालय में प्रतिमा प्रतिष्ठापक]

गुणकीर्तिसूरि
कालिकाचार्यकथा की प्रशस्ति
[वि.सं. 1461-76 में उल्लिखित]

धनकीर्तिसूरि [वि.सं. 1520 के प्रतिमालेख में प्रतिमाप्रतिष्ठापक कमलप्रभसूरि के साथ उल्लिखित]

लिंबडी के हस्तलिखित जैन ग्रन्थ भण्डार में वि.सं. 1517 में लिखी गयी कल्पसूत्रस्तवक[8] और कालिकाचार्यकथा[9] की एक-एक प्रति उपलब्ध है जिसे ग्रन्थभण्डार की प्रकाशित सूची में मडाहडगच्छीय रामचन्द्रसूरि की कृति बतलाया गया है। चूँकि उक्त ग्रन्थभण्डार में संरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ अभी अप्रकाशित हैं, अतः ग्रन्थकार की गुरु-परम्परा, ग्रन्थ के रचनाकाल आदि के बारे में कोई जानकारी नहीं मिल पाती।

इसी गच्छ में विक्रम सम्वत् की 15वीं शताब्दी के तृतीयचरण में पद्मसागरसूरि[10] नामक एक विद्वान् मुनि हो चुके हैं, जिनके द्वारा रचित कयवन्नाचौपाइ, स्थूलभद्रअठावीसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि कुछ कृतियाँ मिलती हैं। ये मरु-गूर्जर भाषा में रचित हैं। **कयवन्नाचौपाई** की प्रशस्ति में रचनाकार ने अपने गुरु तथा रचनाकाल आदि का उल्लेख किया है --

आदि :

सरस वचन आपे सदा, सरसति कवियण माइ,
पणमणि कवइन्ना चरी, पभणिसु सुगुरु पसाइ।
मम्माडहगच्छे गुणनिलो श्रीमुनिसुन्दरसूरि,
पद्मसागरसूरि सीस तसु पभणे आणंदसूरि।

अन्त :

दान उपर **कइवन्न चोपई**, संवर पनर त्रिसठे थई,
भाद्र वदि अठमी तिथि जाण, सहस किरण दिन आणंद आणि।
पद्मसागरसूरि इम भणंत, गुणे तिहिं काज सरंति,
ते सवि पामे वंछित सिद्धि, घर नीरोग घरे अविचल रिद्धि।

यद्यपि उक्त ग्रन्थकार और उनके गुरु का अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता और यह रचना भी सामान्य कोटि की है फिर भी मडाहडगच्छ से सम्बद्ध होने के कारण इस गच्छ के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

विक्रम सम्वत् की सत्रहवीं शताब्दी के द्वितीय-तृतीय चरण में इस गच्छ में सारंग नामक एक विद्वान् हुए हैं। जिनके द्वारा रचित **कविविल्हणपंचाशिकाचौपाई** [रचनाकाल वि.सं. 1639], **भुंजभोजप्रबन्ध** [रचनाकाल वि.सं. 1651], **किसनरुक्मिणीवेलि** पर संस्कृतटीका [रचनाकाल वि.सं. 1678] आदि कृतियाँ प्राप्त होती है।[12] इनके गुरु का नाम पद्मसुन्दर और प्रगुरु का नाम ज्ञानसागर था, जो समसामयिकता और नामसाम्य के आधार पर पूर्वप्रदर्शित मडाहडगच्छ के मुनिजनों की नामावली में उल्लिखित 17वें पट्टधर ज्ञानसागरसूरि से अभिन्न माने जा सकते हैं। मडाहडगच्छ से सम्बद्ध अब तक उपलब्ध यह अन्तिम साहित्यिक साक्ष्य कहा जा सकता है।

अभिलेखीय साक्ष्यों से इस गच्छ की **रत्नपुरीयशाखा** और **जाखडियाशाखा** का अस्तित्त्व ज्ञात होता है। इनका विवरण निम्नानुसार है--

रत्नपुरीयशाखा जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट होता है, रत्नपुर नामक स्थान से यह अस्तित्त्व में आयी प्रतीत होती है। इस गच्छ से सम्बद्ध 14 प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं जो वि.सं. 1350 से वि.सं. 1557 तक के हैं। इन लेखों में धर्मघोषसूरि, सोमदेवसूरि, धनचन्द्रसूरि, धर्मचन्द्रसूरि, कमलचन्द्रसूरि आदि का उल्लेख मिलता है। इनका विवरण निम्नानुसार है :

धर्मघोषसूरि के पट्टधर सोमदेवसूरि

इनके द्वारा वि.सं. 1350 में प्रतिष्ठापित पार्श्वनाथ की धातु की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है। मुनि विद्याविजयजी[13] ने इसकी वाचना की है, जो निम्नानुसार है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सं. 1350 वर्षे माह वदि 9 सोमे.... कानेन भ्रातृरा..... निमित्तं श्रीपार्श्वनाथबिं बं का.प्र. मड्डाहडगच्छे रत्नपुरीय श्री धर्मघोषसूरिपट्टे श्रीसोमदेवसूरिभिः ।।

वर्तमान में यह प्रतिमा आदिनाथ जिनालय, पूना में है।

सोमदेवसूरि के पट्टधर धनचन्द्रसूरि इनके द्वारा प्रतिष्ठापित पार्श्वनाथ की धातु की एक पंचतीर्थी प्रतिमा प्राप्त हुई है। इस पर वि.सं. 1463 का लेख उत्कीर्ण है। श्री पूरनचन्द्रनाहर[14] ने इसकी वाचना दी है, जो निम्नानुसार है :

सं. 1463 वर्षे आषाढ सुदि 10 बुधे प्रा.ज्ञा.व्य.हेमा.भा. हीरादे पु. अजाकेन श्रेयसे श्रीपार्श्वनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं मडाहडगच्छे श्री सोमदेवसूरिपट्टे श्रीधनचन्द्रसूरिभिः ।

धनचन्द्रसूरि के पट्टधर धर्मचन्द्रसूरि इनके द्वारा प्रतिष्ठापित 6 प्रतिमायें मिलती हैं। इनका विवरण निम्नानुसार है :

वि.सं. 1480	फाल्गुन सुदि 10, बुधवार	प्राचीनलेखसंग्रह	लेखांक 124
वि.सं. 1485	वैशाख सुदि 3	प्रतिष्ठालेखसंग्रह	लेखांक 253
वि.सं. 1493	माघ सुदि 2, बुधवार	बीकानेरजैनलेखसंग्रह	लेखांक 768
वि.सं. 1501	ज्येष्ठ सुदि 10, रविवार	प्रतिष्ठालेखसंग्रह	लेखांक 339
वि.सं. 1507	फाल्गुन वदि 3, बुधवार	बीकानेरजैनलेखसंग्रह	लेखांक 920
वि.सं. 1510	मार्ग.?सुदि 10, रविवार	प्राचीनलेखसंग्रह	लेखांक 256

धर्मचन्द्रसूरि के पट्टधर कमलचन्द्रसूरि इनके द्वारा प्रतिष्ठापित 4 प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

वि.सं. 1534	ज्येष्ठ सुदि 10, सोमवार	बीकानेरजैनलेखसंग्रह	लेखांक 1081
वि.सं. 1535	आषाढ़ सुदि 5, गुरुवार	वही	लेखांक 1091
वि.सं. 1541	आषाढ़ सुदि 3, शनिवार	वही	लेखांक 1390
वि.सं. 1545	माघ सुदि 3, गुरुवार	वही	लेखांक 2413

वि.सं. 1557 के एक प्रतिमालेख में इस शाखा के गुणचन्द्रसूरि एवं उपाध्याय आनन्दसूरि का उल्लेख मिलता है।[15] रत्नपुरीयशाखा का उल्लेख करने वाला यह अन्तिम साक्ष्य है।

रत्नपुरीयशाखा के उक्त प्रतिमालेखों में प्रथम [वि.सं. 1350] और द्वितीय [वि.सं. 1463] लेख में सोमदेवसूरि का उल्लेख मिलता है। प्रथम लेख में वे प्रतिमाप्रतिष्ठापक हैं तथा द्वितीय लेख में प्रतिमाप्रतिष्ठापक आचार्य के गुरु। किन्तु दोनों सोमदेवसूरि के बीच प्रायः 100 से अधिक वर्षों का अन्तराल है। अतः इस आधार पर दोनों अलग-अलग व्यक्ति सिद्ध होते हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि इन सौ वर्षों में [वि.सं. 1350 से वि.सं. 1463] इस शाखा से सम्बद्ध कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि दोनों सोमदेव एक ही व्यक्ति हैं और लेख के वाचनाकार की भूल से वि.सं. 1450 की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगह वि.सं. 1350 लिख दिया गया। इस संभावना को स्वीकार कर लेने पर रत्नपुरीयशाखा की वि.सं. 1450 से वि.सं. 1557 की की एक अविच्छिन्न परम्परा ज्ञात हो जाती है :

?
।
।
धर्मघोषसूरि [वि.सं. 13(4)50]
।
सोमदेवसूरि [वि.सं. 13(4)50] एक प्रतिमालेख
।
धनचन्द्रसूरि [वि.सं. 1463] एक प्रतिमालेख
।
धर्मचन्द्रसूरि [वि.सं. 1480-1510] छह प्रतिमालेख
।
कमलचन्द्रसूरि [वि.सं. 1534-1545] चार प्रतिमालेख

इस शाखा के प्रवर्तक कौन थे, यह शाखा कब अस्तित्त्व में आयी, इस बारे में प्रमाणों के अभाव में कुछ भी कह पाना कठिन है। अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर वि.सं. की 15वीं शताब्दी के मध्य से वि.सं. की 16वीं शताब्दी के मध्य तक इस शाखा का अस्तित्त्व सिद्ध होता है।

जाखड़ियाशाखा मडाहडगच्छ की इस शाखा का उल्लेख करने वाले 5 प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं। इनमें कमलचन्द्रसूरि, आनन्दमेरु तथा गुणचन्द्रसूरि का नाम मिलता है। इनका विवरण इस प्रकार है :

कमलचन्द्रसूरि

वि.सं. 1535	माघ वदि 6, मंगलवार	**अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह**	लेखांक 655
वि.सं. 1547	ज्येष्ठ सुदि 2, मंगलवार	**बीकानेरजैनलेखसंग्रह**	लेखांक 1112
वि.सं. 1557	वैशाख सुदि 11, गुरुवार	**प्रतिष्ठालेखसंग्रह**	लेखांक 891
वि.सं. 1560	वैशाख सुदि 3, बुधवार	**बीकानेरजैनलेखसंग्रह**	लेखांक 2751
वि.सं. 1575	फाल्गुन वदि 4, गुरुवार	वही	लेखांक 1630

वि.सं. 1575 के लेख[16] में मडाहडगच्छ की शाखा के रूप में नहीं अपितु स्वतन्त्र रूप से जाखड़ियागच्छ के रूप में इसका उल्लेख मिलता है।

इस शाखा के भी प्रवर्तक कौन थे तथा यह कब और किस कारण से अस्तित्त्व में आयी, इस बारे में आज कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं है।

● *रिसर्च एसोसिएट, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी-5.*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

1. बृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि द्वारा रचित उपदेशमालाप्रकरणवृत्ति [रचनाकाल वि.सं. 1238/ईस्वी सन् 1182] की प्रशस्ति.

   Muni Punya Vijaya - Catalogue of Palm-Leaf Mss in the Shanti Nath Jain Bhandar, Cambay G.O.S. No.149, Baroda, 1966 A.D., pp. 284-286.

   तपागच्छीय मुनिसुन्दरसूरि द्वारा रचित गुर्वावलि [रचनाकाल वि.सं. 1466/ईस्वी सन् 1409].

   तपागच्छीय हीरविजयसूरि के शिष्य धर्मसागर द्वारा रचित तपागच्छपट्टावली [रचनाकाल वि.सं. 1648/ईस्वी सन् 1592].

   इस सम्बन्ध में विस्तार के लिये द्रष्टव्य पं. दलसुख मालवणिया अभिनन्दनग्रन्थ (वाराणसी 1992) में पृष्ठ 105-117 पर प्रकाशित "बृहद्गच्छ का संक्षिप्त इतिहास" नामक लेख.

2. मुनिजिनविजय, संपा. विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह, सिंघी जैन ग्रन्थ माला, ग्रन्थांक 53, बम्बई 1961 ईस्वी, पृ. 52-55.

3. मुनिजयन्तविजय -- अर्बुदाचलप्रदक्षिणा, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर वि.सं. 2004, पृ. 67-77.

4. अगरचन्दनाहटा -- "मडाहडागच्छ" जैनसत्यप्रकाश, वर्ष 21, अंक 3, पृ. 47-48.

5. R.C. Majumdar and A.D. Pusalkar, The Delhi Sultanate Bombay 1960 A.D., pp. 331,834.

6. अगरचन्द भँवरलाल नाहटा -- "मड्डाहडगच्छ की परम्परा" जैनसत्यप्रकाश, वर्ष 20, अंक 5, पृ. 95-98.

7. चक्रेश्वरसूरि बृहद्गच्छ के प्रभावक आचार्य थे. उनके द्वारा वि.सं. 1187 से वि.सं. 1208 तक प्रतिष्ठापित कई जिनप्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं. ग्रन्थप्रशस्तियों में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है.

   मोहनलालदलीचन्द देसाई, जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास बम्बई, 1935 ईस्वी, पृ. 280.

8. मुनिचतुरविजय -- संपादक.
   लींबडीस्थ हस्तलिखित जैन ज्ञान भण्डार सूची पत्रम्.
   आगमोदयसमिति, ग्रन्थांक 58, बम्बई 1928 ईस्वी, क्रमांक 501.

9. वही. क्रमांक 571.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. Vidhatri Vora -- **Catalogue of Gujarati Manuscripts Muniraja Sri Punyavijayaji's Collection**, L.D. Series 71, Ahmedabad 1978, pp. 563.

11. मोहनलालदलीचन्द देसाई -- **जैन गूर्जर कविओ**, भाग 1, नवीन संस्करण, संपादक डॉ. जयन्त कोठारी, बम्बई 1986 ईस्वी, पृ. 224-225.

12. वही, भाग 2, पृ. 175-177.

13. **प्राचीनलेखसंग्रह**, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर 1929 ईस्वी, लेखांक 49.

14. **जैनलेखसंग्रह**, भाग 3, कलकत्ता 1929 ईस्वी, लेखांक 2178.

15. **जैनलेखसंग्रह**, भाग 2, कलकत्ता 1927 ईस्वी, लेखांक 1130.

16. वही, भाग 1, लेखांक 1630.

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ एवं भाषायी दृष्टि से आचारांग के उपोद्घात में प्रयुक्त प्रथम वाक्य के पाठ की प्राचीनता पर कुछ विचार

- डॉ. के.आर. चन्द्र

पू. गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने भगवान महावीर के मुख से जो उपदेश सुने उन्हें अपने शिष्य जम्बूस्वामी को हस्तान्तरित करते (मौखिक परम्परा से) हुए वे फरमाते हैं (आचारांग, प्रथम श्रुत-स्कन्ध, प्रथम अध्ययन, प्रथम उद्देशक का प्रारम्भ)।

"सुयं मे आउसं ! तेणं (तेण-चूर्णी का पाठान्तर) भगवया एवमक्खायं... ।"

इस उपोद्घात के वाक्य में सन्दर्भ की दृष्टि से दो शब्द "आउसं" और "तेणं" तथा भाषायी दृष्टि से तीन शब्द "सुयं", "भगवया" और "अक्खायं" पर विचार किया जा सकता है।

यदि यह वाक्य कथन की एक प्रणाली प्रस्थापित करने के लिए सुधर्मास्वामी से बहुत लम्बे अर्से के पश्चात् जोड़ा गया हो तब तो इसके बारे में कुछ भी कहने को नहीं रह जाता परन्तु आगमों की प्रथम वाचना यानि चौथी शताब्दी ई.पूर्व से यदि यह विद्यमान हो तब तो अवश्य विचारणीय बन जाता है।

सुधर्मास्वामी भगवान महावीर के शिष्य थे और जम्बूस्वामी सुधर्मास्वामी के। भगवान महावीर सुधर्मास्वामी के लिए समय की दृष्टि से बहुत दूर के उपदेशक गुरु नहीं थे इसलिए उन्हें भगवान महावीर के लिए ऐसा प्रयोग करना पड़े कि "उस भगवान महावीर ने (तेणं भगवया) ऐसा कहा"। अन्तराल के वर्षों की अवधि अधिक होती और घटना कोई बहुत पुरानी होती तब तो ऐसा प्रयोग उचित लगता अन्यथा यह प्रयोग संगत नहीं लगता है।

आचारांग के टीकाकार भी इस प्रयोग के बारे में एकमत नहीं हैं। जैसे कि चूर्णिकार (पृ.9) "आउसं तेण" के स्थान पर "आउसंतेण" पाठ की भी संभावना करते हैं और लिखते हैं-- अहवा आउसंतेण, जीवंता कहितं अथवा आवसंतेण गुरुकुलवासं, अहवा आउसंतेण सामिपादा विणयपुव्वो सिस्सायरियकमो दरिसिओ होइ आवसंत आउसंतगहणेण।

शीलांकाचार्य (पृ.11) "श्रुतं मया आयुष्मन्" का अर्थ समझाते हुए बतलाते हैं "मयेति साक्षान्न पुनः पारम्पर्येण" यानि मैंने साक्षात्रूप से न कि परम्परा से सुना। आगे पुनः वे कहते हैं-- यदि वा आमृशता भगवत्पादारविन्दम्, ..., आवसता वा तदन्तिक इत्यनेन गुरुकुलवासः कर्त्तव्य इत्यावेदितं भवति, एतच्चार्थद्वयं "आयुसंतेण आवसंतेणे" त्येतत्पाठान्तरमाश्रित्यावगन्तव्यमिति। इस प्रकार समझाया जाने पर यही उचित लगता है कि सुधर्मास्वामी ने भगवान महावीर के पास रहते हुए यह उपदेश सुना।

अन्य सन्दर्भ

आचारांग में ही किसी अन्य सन्दर्भ में भिक्षु द्वारा गाथापति और गाथापति द्वारा भिक्षु को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बोधित करते समय "आउसंतो" शब्द का प्रयोग मिलता है। (आउसंतो गाहावती, 8.2.204, 8.4.218 आउसंतो समणा 8.3.211)। सूत्रकृतांग में भी संबोधन के लिए "आउसो" शब्द का प्रयोग मिलता है (वच्चधरं च आउसो खणाहि, 1.4.2.13)। इसी ग्रन्थ के पुण्डरीक नामक अध्ययन में (द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, पृ. 121, म.जै.वि.) सम्बोधनार्थ बहुवचन के लिए "आउसो" शब्द के अनेक प्रयोग मिलते हैं। इसी अध्ययन के सूत्र नं. 644 में निग्रन्थों द्वारा महावीर को या भगवान महावीर द्वारा निग्रन्थों को सम्बोधित करते समय "समणाउसो" शब्द का प्रयोग हुआ है। नायाधम्मकहाओ का प्रयोग देखिए--

एवामेव समणाउसो ! जे अम्हं निग्गंथो वा...।
(एन.वी. वैद्य, अ.4, पृ. 67, अ.4, पृ. 82 इत्यादि)

इसिभासियाइं के प्रयोग देखिए--

आउसो ! तेतलिपुत्ता ! एहि ता आयाणाहि
आउसो ! तेतलिपुत्ता ! कत्तो वयामो
(अ.10, पृ. 23.4,11, शुब्रिंग, ला.द.मा. अहमदाबाद)

मूलाराधना की विजयोदया टीका का पाठ इस प्रकार आचारांग (प्रस्तावना, पृ. 36, म.जै.वि.) में उद्धृत है--

सुदं मे आउस्सन्तो ! भगवदा एवमक्खादं

इन उदाहरणों में हमें सम्बोधन के लिए दो रूप मिलते हैं-- आउसो और आउसन्तो जिनमें सामान्यतः एकवचन या बहुवचन का भेद नहीं है।

पालित्रिपिटक साहित्य में भी सम्बोधन के लिए आवुसो (व=व) और आयुस्मन्तो के प्रयोग मिलते हैं। आवुसो शब्द को आयुस्मन्तो (बहुवचन) का ही संकुचित रूप माना गया है।*

अर्धमागधी प्रयोगों में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ पर भी "आउसं" का प्रयोग है वहाँ पर उस शब्द के आगे "तेणं" या "तेणं" शब्द मिलता है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि परवर्तीकाल में आउसंतेणं शब्द में से दो अलग-अलग शब्द "आउसं" और "तेणं" बन गये हैं। इन शब्दों के पहले "सुयं में" भी मिलता है अतः परवर्तीकाल में इस प्रकार लिखा जाने लगा होगा--

सुयं मे आउसं तेणं भगवया...।

इस बात की पुष्टि प्राचीन ग्रन्थों में बचे कुछ प्राचीन प्रयोगों से भी होती है। आचारांग, आचारांगचूर्णी और सूत्रकृतांग में बचे प्राचीन प्रयोग इस प्रकार हैं--

(i) सुयं में आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं
(आचारांग, 2.1.7.2.634, म.जै.वि. संस्करण)

---

* पालित्रिपिटक कन्कोर्डेन्स, पृ. 345

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) इसकी चूर्णि में मात्र "भगवया" के स्थान पर "भगवता" पाठ मिलता है। [आचारांग, पृ. 227, पा.टि.नं. 2]

(iii) सुयं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खायं (सूत्रकृतांग, 2.1.638, म.जै.वि., पृ. 121)

इन सभी प्रमाणों के आधार पर "आउसंतेण" पाठ ही प्राचीन प्रतीत होता है और नकार के स्थान पर ण का प्रयोग तो परवर्तीकाल की प्रवृत्ति है ही इसमें कोई संदेह अब रहा ही नहीं।

अब "सुयं", "भगवया" और "अक्खायं" शब्दों में आने वाले वर्ण विकारों पर विचार किया जाय। प्रथम और तृतीय शब्द भूत कृदन्त हैं तथा द्वितीय शब्द तृतीया एक वचन का रूप है। आचारांग में ही प्राप्त होने वाले इसी प्रकार के प्रयोगों को देखते हुए इनमें जो ध्वनि विकार आ गया है वह उपयुक्त नहीं लगता। आचारांग के (म.जै.वि.) प्रथम श्रुत-स्कन्ध के कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं--

1. अहासुतं वदिस्सामि -- 1.9.1.254
2. (क) भगवता परिण्णा पवेदिता -- 1.1.1.7, 2.93, 3.24, 4.35, 5.43, 6.51, 9.58
(ख) भगवता पवेदितं -- 1.2.5.89, 6.3.197, 8.4.214, 8.5.267, 8.5.219, 8.6.222, 223
(ग) माहणेण मतीमता -- 1.9.1.276, 9.2.292, 9.3.306, 9.4.323
3. (क) एस मग्गो आरिएहिं पवेदिते -- 1.2.2.94
(ख) मुणिणा हु एतं पवेदितं -- 1.5.4.164
(ग) जं जिणेहिं पवेदितं -- 1.5.5.168
(घ) पवेदितं माहणेणं -- 1.8.1.202
(ड) बुद्धेहिं एवं पवेदितं -- 1.8.2.206
(च) णायपुत्तेण साहिते -- 1.8.8.240
(छ) चरियासणाइं... जाओ बूइताओ।
आइक्खइ ताइं.... ।। 1.9.2.211

इस प्रकार "सुत, पवेदित, साहित, बुइन और भगवता, मतीमता आदि कितने ही प्रयोग स्वयं आचा. प्रथम श्रुतस्कन्ध में ही प्राप्त हो रहे हैं। इस दृष्टि में उपोद्घात का वाक्य इस प्रकार होना चाहिए था... । "सुतं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खातं"।

इसी सन्दर्भ में "इसिभासियाइं" के प्रयोग पर ध्यान दीजिए। इसिभासियाइं ग्रन्थ शुब्रिंग महोदय द्वारा संपादित किया गया है। उसमें हरेक अध्ययन के प्रारम्भ में ऋषि के नाम के साथ "...अरहता इसिणा बुइतं" वाक्यांश का प्रयोग मिलता है। 43 बार "अरहता" एवं बुइतं का प्रयोग 37 बार हुआ है, मात्र 7 बार "बुइयं" का प्रयोग मिलता है।

तुलना कीजिए आचारांग के
"भगवया... अक्खायं"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साथ इसिभासियाइं के

"अरहता... बुइतं" की।

मूर्धन्य विद्वानों के द्वारा इसिभासियाइं उतना ही पुराना माना गया है जितना आगमों के चार ग्रन्थ -- आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक। तब फिर भाषा में इतना अन्तर क्यों ? इस दृष्टि से तो आचारांग का सही और प्राचीन पाठ होगा--

"सुतं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खातं" आउसंतेण शब्द में भी "ण" के स्थान पर प्राचीनतम प्राकृत भाषा अर्थात् अर्धमागधी में "न" कार ही होना चाहिए। इसके लिए प्राकृत विद्या 1990 में प्रकाशित मेरा लेख "अर्धमागधी भाषा में मध्यवर्ती दन्त्य नकार का "ण" या "न" देखें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बारह भावना : एक अनुशीलन

- डॉ. कमलेश कुमार जैन

मन की क्रिया अत्यन्त सूक्ष्म होती है। इसका ज्ञान दिन-रात साथ रहने वाले परिजनों/पुरजनों को भी नहीं हो पाता है। मन की यही भावना जब परिपक्व होती है तब वह सूक्ष्म से स्थूल रूप धारण कर लेती है और वचन एवं काय के माध्यम से प्रकट होने लगती है। अतः बीज रूप में व्यक्ति के मन पर पड़े हुए अच्छे-बुरे संस्कार ही भावी जीवन के निर्माता होते हैं।

मोक्षार्थी के लिए संस्कार/चारित्र की शुद्धि नितान्त आवश्यक है और यह चारित्र-शुद्धि व्यक्ति में तभी आती है जब उसकी मनोभावना शुद्ध हो, पर से भिन्न निजात्मा में अनुरक्त हो।

जैनाचार्यों ने उक्त भावना के लिए अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग किया है और परवर्ती जैनाचार्यों/विद्वानों ने अनुप्रेक्षा के अतिरिक्त भावना शब्द का भी प्रयोग किया है। आचार्य कुन्दकुन्द और स्वामी कार्तिकेय ने तो अनुप्रेक्षाओं का विश्लेषण करने हेतु प्राकृत भाषा में स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना की है। प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य में भी अनुप्रेक्षाओं/ भावनाओं का स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया गया है।

हिन्दू धर्म में जो मान्यता भगवद्गीता को प्राप्त है, वही मान्यता जैनधर्म में बारह भावनाओं अथवा द्वादशानुप्रेक्षाओं को प्राप्त है और यही कारण है कि प्रायः सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन जैनाचार्यों/विद्वानों ने बारह भावनाओं पर अपनी लेखनी चलाई है।

लोकजीवन में गद्य की अपेक्षा पद्य रचनाओं का महत्त्व अधिक है, क्योंकि गेयता लोकजीवन का प्राण है। इसीलिए अधिकांश अनुप्रेक्षा साहित्य पद्यमय रचा गया है। आज भी जैन कुल बहुल बुन्देलखण्ड भूमि पर प्रभातबेला में वृद्ध पुरुषों एवं नारी-कण्ठों से पद्यमय बारह भावनाओं की सुमधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है। अब तो नगरों/कस्बों में भी अध्यात्मप्रियजनों के घर में टेप रिकाड्स के माध्यम से बारह भावनाओं के बोल सुनाई पड़ने लगे हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में शोध/समीक्षा का विशेष महत्त्व है। इसलिए किसी भी विषय का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर बुद्धिजीवी वर्ग को सहज ही आकृष्ट किया जा सकता है और अपनी बात समीक्षाशैली के माध्यम से विद्वज्जनों/अध्यात्मरसिकों के हृदय पटल पर स्थायी रूप से अंकित की जा सकती है। आज का युग प्रचार का युग है। जो बोलता है उसका भूसा भी बिक जाता है और जो नहीं बोलता है उसका गेहूँ भी रखा रह जाता है। अतः अब समय आ गया है कि हम अपना गेहूँ/अपनी बात समयानुकूल भाषा/शोध/समीक्षा के माध्यम से प्रस्तुत करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माननीय डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल कृत "बारह भावना : एक अनुशीलन" एक ऐसी ही कृति है, जिसमें शोध-समीकरणों को ध्यान में रखते हुए अब तक रचे गए समस्त बारह भावना साहित्य का सम्यक् अनुशीलन कर अध्यात्म-रसिकों/मुमुक्षुजनों के लिए एक ठोस उपहार प्रस्तुत किया है। प्रारम्भ में डॉ. भारिल्लजी ने "वीतराग विज्ञान" (मासिक, जयपुर) के सम्पादकीय लेखों के रूप में बारह भावनाओं का लेखन प्रारम्भ किया था, किन्तु इसके स्थायी महत्त्व को ध्यान में रखकर कालान्तर में इसे ग्रन्थ का रूप दे दिया, जो महत्त्वपूर्ण है।

अनु पुनः-पुनःप्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणम् अनित्यादिस्वरूपाणाम् इति अनुप्रेक्षा निज-निजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा इत्यर्थः। अर्थात् तत्-तत् नाम वाले अनित्यादि स्वरूपों का पुनः-पुनः चिन्तन, स्मरण करना अनुप्रेक्षा है। इसी का दूसरा नाम भावना है। भावना के प्रकरण में तत्त्वों का पुनः-पुनः चिन्तन करना दोष न होकर गुण है।

जिस प्रकार माँ-पुत्र को उत्पन्न करती है, उसी प्रकार बारह भावनाएँ वैराग्य को उत्पन्न करने वाली हैं।[1] जिस प्रकार हवा के लगने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार इन बारह भावनाओं के चिन्तन से समता रूपी सुख जागृत होता है।[2]

बारह भावनाओं का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लेखक का यह कथन कितना सार्थक/सटीक है कि -- वैराग्यवर्द्धक बारह भावनाएँ मुक्ति पथ का पाथेय तो हैं ही, लौकिक जीवन में भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगों से उत्पन्न उद्वेगों को शान्त करने वाली ये बारह भावनाएँ व्यक्ति को विपत्तियों में धैर्य एवं सम्पत्तियों में विनम्रता प्रदान करती हैं, ...जीवन के मोह एवं मृत्यु के भय को क्षीण करती हैं, ...जीवन के निर्माण में इनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

डॉ. भारिल्लजी ने प्रस्तुत अनुशीलन के प्रथम शीर्षक में अनुप्रेक्षा (भावना)[3] सामान्य के महत्त्व आदि का प्रतिपादन किया है। तत्पश्चात् स्वरचित पद्यमय सार्थ प्रत्येक भावना और उसका अनुशीलन। इस प्रकार बारह भावनाएँ और बारहों भावनाओं का अनुशीलन ये चौबीस और पूर्वोक्त अनुप्रेक्षा सामान्य को मिलाकर मुख्य रूप से पच्चीस शीर्षकों में यह ग्रन्थ विभाजित हुआ है।

बारह भावनाएँ इस प्रकार हैं -- 1. अनित्य (अध्रुव), 2. अशरण, 3. संसार, 4. एकत्व, 5. अन्यत्व, 6. अशुचि, 7. आस्रव, 8. संवर, 9. निर्जरा, 10. लोक, 11. बोधिदुर्लभ और 12. धर्म। भावनाओं का यह क्रम आचार्य उमास्वामी[4] एवं स्वामी कार्तिकेय[5] ने स्वीकार किया है और इसी क्रम को डॉ. भारिल्लजी ने भी अपनाया है। आचार्य कुन्दकुन्द[6] का क्रम उपर्युक्त से भिन्न है। इन बारह भावनाओं को डॉ. भारिल्लजी ने मुख्यता और गौणता की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त करते हुए लिखा है कि आरम्भ की छह भावनाएँ वैराग्योत्पादक और अन्त की छह भावनाएँ तत्त्वपरक हैं।[7] वैराग्योत्पादक तत्त्वपरक चिन्तन ही अनुप्रेक्षा है। आवश्यकता मात्र चिन्तन की नहीं वैराग्योत्पादक चिन्तन की है, तत्त्वपरक चिन्तन की है।[8] आत्मार्थी मुमुक्षुओं के लिए बारह भावनाओं का चिन्तन कभी-कभी का नहीं, प्रतिदिन का कार्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बारह भावनाओं के क्रमिक-विकास पर चिन्तन किया जाये तो ज्ञात होता है-- जिन संयोगों में तू सदा रहना चाहता है, वे क्षण-भंगुर हैं, अनित्य हैं (अनित्य भावना) लेकिन वियोग होना संयोगों का सहज स्वभाव है, उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है, कोई ऐसी दवा नहीं, मणि-मंत्र-तंत्र नहीं, जो तुझे/तेरे पुत्रादि को मरने से बचा ले (अशरण भावना)। हे जीव ! तेरा यह सोचना भी ठीक नहीं कि दूसरे संयोग मिलेंगे, क्योंकि संयोगों में कहीं भी सुख नहीं है, सभी संयोग दुःख रूप ही हैं (संसार भावना)। दुःख मिल-बाँटकर नहीं भोगे जा सकते, अकेले ही भोगने होंगे (एकत्व भावना)। कोई साथ नहीं देगा (अन्यत्व भावना)। जिस देह से तू राग करता है, वह देह अत्यन्त मलिन है, मल-मूत्र का घर है (अशुचि भावना)। आरम्भ की इन छह भावनाओं में संसार, शरीर और भोगों के प्रति अरुचि/वैराग्य उत्पन्न कराकर आत्महितकारी तत्त्वों को समझने के लिए आत्मा को तैयार/प्रेरित किया जाता है। भूमिका (भूमिरिव भूमिका) जमाई जाती है अर्थात् इन भावनाओं में देहादि पर-पदार्थों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराके भेद-विज्ञान की प्रथम सीढ़ी भी पार करा दी जाती है। पुनः यह विचार किया जाता है कि आस्रव भाव दुःख रूप हैं, दुःख के कारण हैं (आस्रव भावना)। इन्हें रोका जा सकता है (संवर भावना) और अभ्यागत कर्मों की निर्जरा की जा सकती है (निर्जरा भावना)। पुनः लोक का स्वरूप बतलाकर (लोक भावना) रत्नत्रय की दुर्लभता का बोध किया जाता है (बोधिदुर्लभ भावना)। अन्त में यह बतलाते हैं कि अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रय रूप धर्म की आराधना इस मनुष्य भव का सार है (धर्म भावना)। इस प्रकार मनुष्य भव की सार्थकता एक मात्र त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति में ही है।[9] बारह भावनाओं के क्रमिक विकास का यह चिन्तन डॉ. भारिल्लजी की अनोखी सूझ-बूझ का फल है।

अनित्य भावना के प्रसंग में डॉ. भारिल्लजी ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि अनित्य भावना का चिन्तन तो मुख्य रूप से सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों को होता है, मुनिराजों को भी होता है, तो क्या वे भी संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता से अनजान होते हैं ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वे लिखते हैं -- नहीं, वे संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता से भली-भाँति परिचित होते हैं। अज्ञानजन्य आकुलता-व्याकुलता तो अज्ञानियों को ही होती है, सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों को नहीं, किन्तु पूर्ण वीतरागता के अभाव में देव-शास्त्र-गुरु, शिष्य, माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि व देहादि संयोगों तथा शुभराग, विशिष्ट क्षयोपशमज्ञानादि पर्यायों में रागात्मक विकल्प यथासम्भव भूमिकानुसार सम्यग्ज्ञानियों के भी पाये जाते हैं, इष्ट संयोगों के वियोग में उनका भी चित्त अस्थिर हो जाता है। चित्त की स्थिरता के लिए वे भी संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता का बार-बार विचार करते हैं। उनका यह चिन्तन आम्नाय-स्वाध्याय रूप ही समझना चाहिए।[10] डॉ. भारिल्लजी द्वारा उठाया गया यह प्रश्न और उसका समाधान जिज्ञासुओं के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

कभी-कभी ऊपर से समान प्रतीत होने वाली दो भावनाओं अथवा तत्त्वों आदि के मध्य होने वाले सूक्ष्म अन्तर को सामान्य पाठक नहीं समझ पाता है। अतः डॉ. भारिल्लजी ने उनके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्य होने वाले अन्तर को स्पष्ट करने के लिए एक विभाजन रेखा खींचकर विषय को सर्वगम्य बनाने का सफल/सकल प्रयास किया है। जैसे -- अनित्य भावना और अशरण भावना में मूलभूत अन्तर स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि अनित्य भावना में संयोगों और पर्यायों के अनित्य स्वभाव का चिन्तन होता है और अशरण भावना में उनके ही अशरण भाव का चिन्तन किया जाता है। अनित्यता के समान अशरण भी वस्तु का स्वभाव है।[11] अनित्य भावना का केन्द्र-बिन्दु है -- "मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार" और अशरण भावना कहती है-- "मरतै न बचावे कोई" -- यही इन दोनों में मूलभूत अन्तर है।[12]

इसी प्रकार संसार भावना और लोक भावना में आये संसार और लोक -- इन दो शब्दों का अन्तर स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं -- "लोक में संसार शब्द का प्रयोग लोक (जगत्, दुनियाँ) के अर्थ में भी होता है, पर संसार भावना के सन्दर्भ में संसार का अर्थ लोक, दुनियाँ, जगत् किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं है, क्योंकि बारह भावनाओं में संसार भावना के समान लोक भी एक भावना है। दोनों में बिन्दु और सिन्धु का अन्तर है। संसार बिन्दु है तो लोक सिन्धु है। संसार जीव की विकारी पर्याय मात्र है और लोक छह द्रव्यों के समूह को कहते हैं। लोक मात्र ज्ञेय है, पर संसार हेय भी है। षड्द्रव्यमयी लोक को मात्र जानना है, पर संसार का तो अभाव भी करना है।[13]

डॉ. भारिल्लजी द्वारा शब्दों की पकड़ के माध्यम से बतलाये गये कुछ अन्य अन्तर भी द्रष्टव्य हैं --

एकत्व और अन्यत्व -- इन दोनों भावनाओं में विधि और निषेध रूप ही अन्तर है।[14]

आस्रव भावना आस्रव तत्त्व नहीं संवर तत्त्व है क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में बारह भावनाओं का वर्णन संवर तत्त्व के प्रकरण में आता है।[15]

संवर भावना और संवरतत्त्व में कारण-कार्य का सम्बन्ध है क्योंकि उक्त कथन में बारह भावनाओं को संवर के कारणों में गिनाया गया है और संवर भावना भी बारह भावनाओं में एक भावना है।[16]

संवर मोक्ष-मार्ग का आरम्भ है और निर्जरा मोक्ष-मार्ग।[17]

बोधिदुर्लभ भावना में बोधि की दुर्लभता अर्थात् रत्नत्रय की दुर्लभता का चिन्तन किया जाता है और धर्म भावना में धर्म अर्थात् रत्नत्रय के स्वरूप एवं महिमा का चिन्तन किया जाता है।[18]

इस प्रकार डॉ. भारिल्लजी ने अपनी सूक्ष्म/पैनी दृष्टि को छेनी बनाकर विषय-विभाजन करते हुए यह सिद्ध किया है कि बारह भावनाओं में मूलभूत अन्तर वस्तुतः परस्पर चिन्तन प्रक्रिया का ही है।

सरल, सुबोध, तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली में विषय-वस्तु का प्रतिपादन करना डॉ. भारिल्लजी की अपनी विशेषता है। देह और आत्मा दोनों ऊपर से एक दिखलाई देने पर भी वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परस्पर कितने भिन्न हैं ? इस बात को उदाहरण के माध्यम से समझाने की डॉ. भारिल्लजी की शैली द्रष्टव्य है --

जिस प्रकार दूध तो दूध है और पानी पानी, दूध कभी पानी नहीं हो सकता और न पानी दूध। दूध में पानी मिला देने से न तो दूध पानी हो जाता है और न पानी दूध, मिल जाने पर भी दूध दूध रहता है और पानी पानी। वस्तुतः वे मिलते ही नहीं, मात्र मिले दिखते हैं।[19] उसी प्रकार जीव जीव है और देह देह, जीव कभी देह नहीं हो सकता है और न देह जीव। जीव और देह एक क्षेत्रावगाह हो जाने पर भी न तो जीव देह हो जाता है और न देह जीव, संयोगीदशा में भी जीव जीव रहता है और देह देह। वस्तुतः वे मिलते ही नहीं, मात्र मिले दिखते हैं।[20]

इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किन्तु इस लघु समीक्षा लेख में देना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त बिन्दुओं पर समग्र रूप से विचार करने पर प्रतीत होता है कि डॉ. भारिल्लजी ने "बारह भावना : एक अनुशीलन" नामक इस ग्रन्थ के माध्यम से न केवल बारह भावनागत अनेक प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान प्रस्तुत किया है, अपितु सुबोध शैली में जिज्ञासुओं/मुमुक्षुओं/विद्वज्जनों के लिए बारह भावनाओं का सर्वांगीण शोधपरक विवेचन प्रस्तुत किया है, जो परम्परागत शैली को अक्षुण्ण रखते हुए अपने नव्य/भव्य रूप में सर्वथा स्वागतेय है।

और अन्त में मैं डॉ. भारिल्लजी के इस विश्वास को दोहराना चाहूँगा कि इस अनुशीलन को जो भी व्यक्ति पवित्र हृदय से पढ़ेगा, मनन करेगा, चिन्तन करेगा, इसमें व्यक्त रहस्य को गहराई से अनुभव करेगा, उसकी भी जीवनधारा परिवर्तित हुए बिना नहीं रहेगी।[21]

ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है।

---

1. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृ. 19
2. वही,
3. वही, पृ. 8
4. तत्त्वार्थसूत्र, 9/7
5. द्रष्टव्य, कार्तिकेयानुप्रेक्षा
6. आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार अनुप्रेक्षाओं का क्रम इस प्रकार है -- अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचिता, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, बोधि (दुर्लभ) - द्रष्टव्य, बारसाणुपेक्खा, गाथा 2
7. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृ. 22
8. वही, पृ. 20
9. वही, पृ. 23-24

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. बारह भावना : एक अनुशीलन, पृ. 29-30
11. वही, पृ. 41
12. वही, पृ. 42
13. वही, पृ. 54-55
14. वही, पृ. 62
15. वही, पृ. 101
16. वही, पृ. 112
17. वही, पृ. 131
18. वही, पृ. 162
19. वही, पृ. 78
20. वही, पृ. 79
21. वही, पृ. 12

निर्वाण भवन, बी. 2/249, लेन नं. 14, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-221005.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुस्तक-समीक्षा

पुस्तक -- कुलपाक तीर्थ : माणिक्यदेव-ऋषभदेवः लेखक -- महोपाध्याय विनयसागरः प्रकाशक -- श्री श्वेताम्बर जैन तीर्थ कुलपाकः प्रकाशन वर्ष -- 1991; मूल्य -- पचास रुपये मात्रः आकार -- डिमाई पेपर बैक

प्रस्तुत कृति के लेखक महोपाध्याय विनयसागर जी ने कुलपाकजी तीर्थ, जिसका इतिहास कुछ ऐतिहासिक एवं कुछ प्रागैतिहासिक है, को इतिहास के विभिन्न उपादानों के आधार पर निष्पक्ष रूप से प्रस्तुत किया है। लेखक ने इस तीर्थ के इतिहास को लिखने में परम्परागत मान्यताओं के साथ ही साथ शोधपरक दृष्टि का भी परिचय दिया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में दी गयी सामग्री ग्रन्थ की गरिमा को बढ़ाती है। इसी प्रकार मंदिरों एवं मूर्तियों का कलात्मक परिचय ग्रन्थ की मूल्यवत्ता को उजागर करता है।

पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने कुलपाक तीर्थ के इतिहास को प्रकाश में लाकर जैन जगत् ही नहीं,अपितु समग्र समाज के लिए उल्लेखनीय कार्य किया है, जो प्रशंसनीय है।

ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से उपयोगी है।

■

पुस्तक --जिनवाणी के मोतीः लेखक -- दुलीचन्द्र जैनः प्रकाशक -- जैन विद्या अनुसंधान प्रतिष्ठान, 18 रामानुज अय्यर स्ट्रीट साहुकारपेट, मद्रास, प्रकाशन वर्ष -- 1993, मूल्य पचास रुपये, आकार -- डिमाई हार्डबाउण्ड

'जिनवाणी के मोती' नामक इस कृति में लेखक ने भगवान महावीर की मूलवाणी एवं उनके संदेशों का संकलन आधुनिक सरल भाषा में भावार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। इसमें प्राचीन भारतीय ज्ञान राशि के अद्भुत स्वरूप जैनागमों का सार तत्त्व उपलब्ध है।

जैन आगमों ग्रन्थों की सूक्ति एवं गाथा संकलन के अनेक प्रयास हुए हैं जिनकी चर्चा प्रस्तुत कृति की भूमिका में प्रो. सागरमलजी जैन ने विस्तार से की है।

सरल गाथाओं से युक्त इस कृति में मंगलसूत्र के अतिरिक्त आत्मतत्त्व, मोक्षमार्ग, तत्त्व-ज्ञान, कषाय विजय, कर्मवाद, भावनासूत्र, धर्ममार्ग, ध्यानमार्ग एवं शिक्षापद नामक शीर्षकों के अन्तर्गत आगमिक गाथाओं के संकलन के साथ ही गाथाओं का हिन्दी अर्थ भी दिया गया है। जिससे सामान्य पाठकजन जो प्राकृत भाषाविज्ञ नहीं है, भी लाभान्वित होगें।

प्रस्तुत कृति का उद्देश्य सामान्यजन में आगम ग्रन्थों के अध्ययन की अभिरुचि उत्पन्न करना है, जो निःसंदेह प्राकृत एवं जैन विद्या की अनुपम सेवा है। कृति के प्रारम्भ में प्रो.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागरमल जैन की लगभग 14 पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित भूमिका दी गयी है जिससे कृति का महत्त्व द्विगुणित हो गया है। कृति में संकलित सूक्तियाँ मानव जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं।

पुस्तक अनेक दृष्टियों से उपयोगी एवं संग्रहणीय है ।

■

पुस्तक -- स्वयम्भूस्तोत्र-तत्त्वप्रदीपिका (चतुर्विंशति जिनस्तोत्र- तत्त्वप्रदीपिका); लेखक -- प्रो. उदयचन्द्र जैन; प्रकाशक -- श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी; प्रकाशन वर्ष-- 1993; मूल्य -- अजिल्द -- पचास रुपये, सजिल्द -- साठ रुपये; आकार -- डिमाई पेपर बैक

जैन चिन्तकों में समन्तभद्र अग्रगण्य हैं। स्तुतियों के माध्यम से जैन दर्शन का प्रस्तुतीकरण और अन्य दार्शनिक विचारधाराओं की समीक्षा करने वाले जो आचार्य हुए हैं उनमें सिद्धसेन व समन्तभद्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। दोनों ही आचार्यों की इस विद्या में अपनी विशिष्टता है। समन्तभद्र की कृतियों में आप्त मीमांसा व स्वयंभूस्तोत्र दोनों ही जैन दार्शनिक चिन्तन के उत्कर्ष के सूचक हैं। स्वयंभूस्तोत्र में उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के माध्यम से जैन सिद्धान्तों के रहस्य का गूढ किन्तु मुखर प्रतिपादन किया है।

प्रो. उदयचन्द्र जैन, जैन विद्या के वरिष्ठ विद्वान् हैं। उन्होंने मूल संस्कृत श्लोकों का न केवल सामान्य अर्थ प्रस्तुत किया है अपितु विशेषार्थ के माध्यम से उनकी सम्यक् व्याख्या भी प्रस्तुत की है। जो जन-साधारण व विद्वान् दोनों के लिए ही बोधगम्य है। क्लिष्ट विषय को भी उन्होंने जिस सरलता के साथ अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है, वह अभिनन्दनीय है। यद्यपि स्वयंभूस्तोत्र पर काफी कुछ लिखा गया है किन्तु उन सब में हिन्दी व्याख्या की दृष्टि से यह कृति सर्वोत्तम है।

प्रारम्भ में उनके द्वारा लिखित प्रस्तावना भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे उत्कृष्ट प्रकाशन के लिए श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरियाँ, बधाई का पात्र है।

कृति पठनीय और संग्रहणीय है। मूल्य भी उचित ही है। साज-सज्जा आकर्षक है।

■

पुस्तक -- तत्त्वार्थसूत्रना आगम आधार स्थानो; आगम पाठ संशोधक -- मुनि दीपरत्नसागर; प्रकाशक -- अभिनव श्रुत, प्रकाशन; प्रकाशन वर्ष -- 1991; मूल्य -- ; आकार -- डिमाई पेपर बैक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति में तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र के आगमिक आधार-स्थलों का संकलन किया गया है। मुनि श्री दीपरत्नसागरजी ने यह महत्त्वपूर्ण कार्य किया, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

यद्यपि इसके पूर्व स्थानकवासी जैन परम्परा के आचार्यश्री आत्मारामजी ने "तत्त्वार्थसूत्र और जैनागम समन्वय" के रूप में तत्त्वार्थसूत्र के सभी सूत्रों के आगमिक आधार-स्थलों का निर्देश किया। वैसे प्रस्तुत कृति और उसमें जो स्थल सन्दर्भित हैं वे अधिकांश रूप में एक ही हैं। यद्यपि मुनि श्री दीपसागरजी ने कहीं-कहीं कुछ नये आगमिक आधार स्थल भी निर्देशित किये हैं और कहीं उसमें उल्लेखित सन्दर्भ छोड़ भी दिये गये हैं। उन्होंने आचार्य आत्मारामजी की कृति का कितना उपयोग किया है यह हमें ज्ञात नहीं है क्योंकि उन्होंने उस कृति का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों के अनेक आगमिक आधार-स्थल निर्युक्ति साहित्य में भी उपलब्ध हैं। जैसे -- तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास की जिन 10 अवस्थाओं की चर्चा है; वे यथावत् रूप में मात्र आचारांगनिर्युक्ति में ही उपलब्ध होती हैं। यदि निर्युक्ति साहित्य का उपयोग किया गया होता तो और भी कुछ नये तथ्य सामने आते। यद्यपि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के आधार के रूप में श्वेताम्बर परम्परा में वलभी वाचना के आगमों को प्रस्तुत किया जाता है और उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में कषाय पाहुड, षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को उनकी रचना का आधार बताया जाता है। किन्तु उमास्वाति का तत्त्वार्थ सूत्र इन दोनों से पूर्ववर्ती है। यही कारण है कि उसके अनेक सूत्रों का आधार यथावत रूप में न तो श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में है न दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में है। इस सन्दर्भ में विशेष चर्चा प्रो. सागरमल जैन के ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा में हुई है।

इस कृति के अन्त में तत्त्वार्थसूत्र के मूल-पाठ में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में क्या अन्तर है यह दिखाया गया है।

कृति तुलनात्मक अध्ययन करने वाले और शोधार्थियों के लिए उपयोगी है। सम्भवतः गुजराती पाठकों के लिए इस प्रकार की यह प्रथम कृति है।

कृति संग्रहणीय और पठनीय है।

■

पुस्तक -- जयोदय महाकाव्य का शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन; लेखिका -- डॉ. (कु.) आराधना जैन "स्वतन्त्र"; प्रकाशक -- श्री दिगम्बर जैन मुनि संघ चातुर्मास सेवा समिति, गंज बसौदा, विदिशा (म.प्र.); संस्करण प्रथम -- 1994; मूल्य -- पचास रुपये; आकार -- डिमाई पेपर बैक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयोदय महाकाव्य दिगम्बर जैन आचार्य पू. श्री ज्ञानसागरजी महाराज की कृति है। जिसका अनुशीलन डॉ. कुमारी आराधना जैन ने पी.एच-डी. की उपाधि के लिए किया। इस ग्रन्थ में लेखिका ने जयोदय महाकाव्य का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत किया है।

यह पुस्तक बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में जयोदय काव्य के प्रणेता महाकवि भूरामल जी (आचार्य ज्ञानसागरजी) का जीवन वृत्त एवं उनके द्वारा रचित कृतियों का विवरण है। दूसरा अध्याय महाकाव्य की कथावस्तु और उसके मूल स्रोत का विवेचन करता है। तीसरे अध्याय में कवि ने भाषा को काव्यात्मक बनाने के लिए जिस उक्ति-वक्रताओं का प्रयोग किया है उसका विश्लेषण है। चौथा, पाँचवा, छठा, सातवां अध्याय क्रमशः मुहावरों, अलंकार-विन्यास, बिम्ब-योजना तथा लोकोक्तियों आदि का वर्णन करता है। आठवाँ अध्याय जयोदय में उपलब्ध रस, उसके स्वरूप, रस की उत्पत्ति आदि विषय पर प्रकाश डालता है। नौवाँ अध्याय वर्ण-विन्यास की वक्रता को उन्मीलित करता है। दसवाँ अध्याय जयोदय में वर्णित प्रमुख पात्रों के चरित्र को चित्रित करता है। ग्यारहवें अध्याय में तत्कालीन जीवन पद्धति पर दृष्टिपात किया गया है। बारहवाँ अध्याय उपसंहार के रूप है। इसके साथ ही तीन परिशिष्ट भी ह।

इस प्रकार इस रोचक महाकाव्य का शैलीवैज्ञानिक अनुशीलन प्रस्तुत कर लेखिका ने एक श्रमसाध्य और नवीन कार्य किया है जो शोधार्थियों के लिए उपयोगी होगा। ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुबोध है। साज-सज्जा आकर्षक है।

पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

■

पुस्तक -- शाकाहार मानव सभ्यता की सुबह; लेखक -- डॉ. नेमीचन्द; प्रकाशक -- पी.एस. जैन फाउण्डेशन, दिल्ली- 110054; संस्करण -- प्रथम 1993; मूल्य -- अध्ययन; आकार-- डिमाई पेपर बैक

प्रस्तुत पुस्तक डॉ. नेमीचन्दजी के शाकाहार विषयक लेखों का संग्रह है। आज शाकाहार के विषय में काफी कुछ लिखा जा रहा है जिसकी आवश्यकता भी है। समाज में दिनों-दिन बढ़ती हिंसा, क्रूरता और मनुष्यों की तामसी वृत्ति के लिए काफी हद तक मांसाहार और खान-पान जिम्मेदार है। ऐसी अवस्था में शाकाहार पर बल देना अत्यन्त आवश्यक है। डॉ. नेमीचन्द ने इस पुस्तक में अपने स्वतन्त्र लेखों के माध्यम से शाकाहार के भूत-भविष्य, उससे होने वाले सामाजिक-शारीरिक लाभ और मांसाहार से उत्पन्न दुष्प्रभावों को स्पष्ट किया है। शाकाहार का प्रश्न सिर्फ आहार से ही नहीं जुड़ा है अपितु यह मानव के जीवन मूल्यों से जुड़ा है। प्राचीनकाल में धर्म ग्रन्थों और संतपुरुषों ने अपने उपदेशों में यह बताया था कि मनुष्य को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सादा-जीवन, उच्च-विचार से अनुप्रेरित होना चाहिये जिसके लिए सात्विक भोजन आवश्यक है। बीच में यह धारणा बदल गयी थी और लोग ऐसा मानने लगे थे कि जो व्यक्ति मांसाहारी है वही दीर्घजीवी होता है। इस मान्यता का आज के आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने स्पष्ट रूप से खण्डन कर दिया है।

शाकाहार मात्र आहार नहीं बल्कि आत्मानुशासन और अपने इन्द्रियों पर अंकुश रखने की साधना है। जिससे मनुष्य अपने मन को अपने अधीन कर पाने में सक्षम होगा।

आशा है इस पुस्तक से समाज के सभी वर्ग लाभान्वित होगें। इस श्रेष्ठ कृति के लिए लेखक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

■

पुस्तक -- चैतन्य चिंतनः लेखक -- श्री 108 मुनि विरागसागरजी म.; प्रकाशक -- श्री सुवालाल चतुरभुज अजमेरा, नागौर (राज.); संस्करण -- प्रथम, 1987; मूल्य -- पाँच रुपये (प्रथम), दस रुपये (द्वितीय) आकार -- डिमाई पेपर बैक

चैतन्य चिंतन में मुनि श्री विरागसागरजी द्वारा 1984 तक की दैनिक डायरी के रूप में लिखे गये अन्तर विचार प्रस्तुत हैं। इन विचारों में सत् विचार, सुसंस्कार, अध्यात्म वृत्ति, अनुशासन, ज्ञानदान, प्रतिक्रमण, संगति आदि कुल 102 सद्विचार प्रथम भाग में है। द्वितीय भाग में क्रोध के प्रकार, सुसंस्कारित ज्ञान, अहिंसा, ज्ञान का आनन्द, कर्मफल सहित 103 विचार संकलित हैं।

आशा है इस पुस्तिका से पाठकगण मुनि श्री के विचारों के सारभूत तत्त्व को समझ कर उससे लाभान्वित होगें।

पुस्तिका उपयोगी है।

■

पुस्तक -- कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रियाः प्रस्तोता -- पं. जगन्मोहनलाल शास्त्रीः प्रकाशक-- निज ज्ञान सागर शिक्षा कोष, सतना, म.प्र.; संस्करण -- द्वितीयः प्रकाशन वर्ष -- 1993; मूल्य -- तत्त्व जिज्ञासुओं के चिन्तन हेतुः आकार -- डिमाई पेपर बैक

कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया नामक पुस्तक में पं. जगन्मोहनलाल शास्त्रीजी ने जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त, कर्मबन्ध तथा उसकी प्रक्रिया आदि विषयों पर पाण्डित्यपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में आगमों का प्रमाण देकर विषय को स्पष्ट किया गया है तथा यह सिद्ध किया गया है कि स्थिति एवं अनुभाग बन्ध कषाय से होता है न कि मिथ्यात्व से। संक्षेप में कहा जाय तो पं. जी ने इस पुस्तक में ज्ञान का सागर भर दिया है और कर्मबन्ध के प्रश्न पर कषाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं मिथ्यात्व को लेकर जो विवाद चल रहा है उसको शास्त्रीय आधार दिया है।

कर्म बन्ध के सम्बन्ध में जिज्ञासुओं एवं शोधकर्त्ताओं के लिए यह पुस्तक तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की है।

इस निष्पक्ष और प्रामाणिक कृति के प्रणयन के लिए समाज पं. जी का ऋणी हैं।
पुस्तक संग्रहणीय है।

■

पुस्तक -- धर्म नाव के बाल यात्री, लेखक -- श्री सुभद्रमुनिः प्रकाशक -- मुनि मायाराम सम्बोधिः प्रकाशन, दिल्लीः संस्करण -- द्वितीय 1993; मूल्य दस रुपयेः आकार -- डिमाई पेपर बैक

प्रस्तुत पुस्तक धर्म नाव के बाल यात्री में श्री सुभद्र मुनिजी ने बच्चों के लिए मां और बेटा, धर्म और नाव, बालऋषि, अमर बालक भय मिट गया और सुविधाओं के शूल ऐसी छह मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद कहानियाँ लिखीं हैं। आज बाल साहित्य के नाम पर कामिक्स का जाल फैला है जिसमें वीभत्सता एवं हिंसापरक सामग्री छाप कर बच्चों के मन को गंदा किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में मुनि श्री की इन शिक्षाप्रद कहानियों से बच्चों को चरित्र-निर्माण की दिशा में प्रेरणा मिलेगी और सदाचार एवं सद्गुणों को जीवन में आत्मसात् कर सकेगें। रंगीन चित्रों से युक्त पुस्तक पढ़ने में न केवल बालकों को युक्त आकर्षण रहता है अपितु उनके लिये कथा भी बोधगम्य बन जाती है।

पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक है।

■

पुस्तक -- सुभद्र कहानियाँ, लेखक -- सुभद्र मुनिः प्रकाशक -- मुनि मायाराम सम्बोधि प्रकाशन, दिल्लीः संस्करण -- प्रथम 1994, मूल्य -- आठ रुपये मात्रः आकार -- डिमाई पेपर बैक

प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न धर्म, परम्पराओं एवं महापुरुषों के जीवन प्रसंगों से सम्बन्धित रोचक कहानियाँ संग्रहीत हैं। इन कहानियों में मनोरंजन के साथ-साथ जीवन का संदेश भी निहित है। कहानियों के साथ कुछ स्थलों पर चित्र का संयोजन भी है जिससे बच्चों को विषय समझने में सुविधा होगी।

पुस्तक बालोपयोगी है तथा साज-सज्जा आकर्षक है।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुस्तक -- सचित्र महावीर कथा; लेखक -- सुभद्र मुनि; प्रकाशक -- मुनि मायाराम सम्बोधि प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण -- द्वितीय 1993, मूल्य -- पन्द्रह रुपये मात्र; आकार -- डिमाई पेपर बैक

इस पुस्तक में श्री सुभद्र मुनिजी ने जैनधर्म के आराध्य तीर्थंकर महावीर के विषय में उनसे सम्बन्धित प्रेरक प्रसंगों को मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किया है। इस सचित्र पुस्तक के माध्यम से बच्चों को विषय समझने में सुगमता होगी।

इस पुस्तक से बच्चों को भगवान महावीर के बारे में शिक्षा-प्रद जानकारी मिलेगी, ऐसी आशा है।

■

पुस्तक -- चेतना के पड़ाव; लेखिका -- किरण भूतोड़िया; प्रकाशक -- प्रियदर्शी प्रकाशन, कलकत्ता; संस्करण 1993; मूल्य -- पचास रुपये मात्र; आकार -- डिमाई पेपर बैक

चेतना के पड़ाव किरण भूतोड़िया द्वारा विरचित काव्य-संग्रह है। इस कविता-संग्रह की कविताओं में लेखिका ने अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। ये कवितायें अलग-अलग रुचि एवं रस की हैं। इन कविताओं में एक ओर भक्ति, समर्पण और प्रेम की भावनात्मक कवितायें हैं तो दूसरी ओर लेखिका की दार्शनिक और बौद्धिक अभिरुचि भी दिखायी देती है।

इस काव्य-संग्रह में संग्रहीत कवितायें मधुर, सरस व हृदय स्पर्शी हैं। कवयित्री का आध्यात्मिक जीवन के सूत्रों को कविता की शैली में प्रस्तुत करने का यह एक सार्थक प्रयास है।

पुस्तक प्रशंसनीय है।

■

पुस्तक -- अध्यात्म के परिपार्श्व में; लेखक -- डॉ. निजामुद्दीन; प्रकाशक -- जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान); संस्करण -- प्रथम 1993; मूल्य -- पचास रुपये मात्र; आकार-- डिमाई पेपर बैक

"अध्यात्म के परिपार्श्व में" नामक इस ग्रन्थ में लेखक ने जैनधर्म-दर्शन के अनेक गम्भीर विषयों पर अपनी लेखनी चलाकर उनके वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। डॉ. निजामुद्दीन ने इस पुस्तक में इस्लामी साधना को वैष्णव और जैन साधनाओं से जोड़कर जो तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है वह न केवल स्तुत्य है अपितु इस्लाम को भारतीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिप्रेक्ष्य में समझने में सहायता भी मिलेगी।

ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम चिन्तन, मंथन नामक खण्ड में अनेकांत, अपरिग्रह, अहिंसा, पर्यावरण आदि विषयों से सम्बन्धित लेख हैं। इस खण्ड में समन्वय की दृष्टि से "महावीर और कबीर की अहिंसा दृष्टि" शीर्षक लेख महत्त्वपूर्ण है। धर्म-दर्शन शीर्षक द्वितीय खण्ड में जैनधर्म विषयक कुछ लेख हैं। इन लेखों में मानव धर्म और असाम्प्रदायिक दृष्टि नामक लेख में धार्मिक सहिष्णुता, पारस्परिक सौहार्द के हेतु लेखक की तड़प का पता लगता है। पुस्तक के तीसरे खण्ड में व्यक्ति : विचार में भगवान महावीर और पैगम्बर मोहम्मद साहब के सामाजिक एकता, अहिंसा, अपरिग्रह एवं जैनधर्म के अणुव्रत आन्दोलन से सम्बन्धित विषयों का तटस्थ बुद्धि से विवेचन किया गया है। इस खण्ड में तीर्थंकरों की परम्परा और महावीर शीर्षक लेख को जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से ऐतिहासिक लेख कहा जा सकता है। भगवान महावीर और विश्व शान्ति, महावीर की लोकतांत्रिक दृष्टि भी प्रासंगिक लेख है।

इन लेखों के माध्यम से लेखक ने सर्वधर्म समभाव का पाठ लोगों के सामने रखा है। आज के धर्मोन्मादी एवं सम्प्रदायवादी वातावरण में इस प्रकार के उदारवादी और दूसरे धर्मों के प्रति आदर भाव रखने वाले विचारकों की अत्यधिक आवश्यकता है।

पुस्तक धर्म-दर्शन आदि विषयों के सुधी अध्येताओं के साथ-साथ सामान्यजन के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। इस सार्थक प्रयास के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

■

पुस्तक -- धर्मरत्नकरण्डकः; संपादक -- पंन्यास मुनिचन्द्रविजयगणिः प्रकाशक -- शारदाबेन चिमनभाई एजुकेशन रिसर्च सेन्टर, अहमदाबादः संस्करण -- प्रथम 1994; मूल्य -- दो सौ पचास रुपये मात्रः आकार -- रायल आठपेज हार्डबाउण्ड

धर्मरत्नकाण्डकः नामक यह ग्रन्थ श्वेताम्बर आचार्य नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरि के पट्टालंकार आचार्य वर्धमानसूरि के द्वारा वि.सं. 1172 तदनुसार ई.1115 में ग्रथित है। सम्पूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित 20 अधिकारों में विभक्त है -- धर्माऽधर्मस्वरूपाधिकार, जिनपूजाऽधिकार, गुरुभक्ति अधिकार, परोपकाराधिकार, सन्तोषाधिकार, संसाराधिकार, शोकाधिकार, कषायाधिकार, लोकविरुद्धाधिकार, दानाऽधिकार, शीलाऽधिकार, तपोऽधिकार, भावनाऽधिकार, शिष्टसङ्गाऽधिकार, विनयाधिकार, विषयाधिकार, विवेकाधिकार, मृदुभाषिताऽधिकार, दयाऽधिकार और सघंपूजाऽधिकार।

इन अधिकारों से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थ में न केवल कषायजय, क्षीणपालन और तपादि विविध साधनाओं का उल्लेख है अपितु दान, दया, परोपकार, संघ-पूजा आदि सामाजिक महत्त्व के विषय भी हैं। ग्रन्थ की विशेषता है कि इसमें विषय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्धित प्रसंगानुसारी अनेक कथाएँ भी दी गयी हैं। इस प्रकार यह जैन परम्परा का एक कथा कोश ही है। आराधना कथाकोश या बृहत् कथाकोश की तरह इसमें भी अनेक कथाएँ दी गयी हैं। ग्रन्थ मुख्यतः संस्कृत पद्य में है किन्तु कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया गया है। वस्तुतः यह गद्य स्वोपज्ञ-टीका के रूप में ही है। यह कृति पर्याप्त समय से अनुपलब्ध थी तथा पूर्व में पत्राकार में छपी थी। मुनि चन्द्र विजयजी ने पूर्व प्रकाशित संस्करण की अशुद्धियों को दूर करके इसका पुनः सम्पादन किया। उन्होंने पर्याप्त परिश्रम करके इसका शुद्ध पाठ उपलब्ध कराया इसके लिए विद्वत् वर्ग उनका आभारी रहेगा। शाजापुर जिनकान्ति कैलाशचन्द्र रिसर्च सेन्टर ने भीलडियाजी जैन तीर्थ के आर्थिक सहयोग से इसका प्रकाशन किया है अतः ये दोनों संस्थायें भी धन्यवाद की पात्र हैं।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में जो एक कमी खटकती है वह यह कि यदि इसके साथ एक विस्तृत और तुलनात्मक प्रस्तावना भी जुड़ जाती तो इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता। भविष्य में संभवतः इस तथ्य को दृष्टिगत् रखा जायेगा।

पुस्तिक की साज-सज्जा आकर्षक है तथा मुद्रण निर्दोष है। ग्रन्थ उपयोगी एवं संग्रहणीय है।

■

पुस्तक -- आचार्य श्री विजयधर्मसूरिश्वर श्रद्धाञ्जलि विशेषांक; संपादक -- श्री यशोदेवसूरिजी म.; प्रकाशक -- मुक्ति कमल जैन मोहनमाला, ठिकाना रावपुरा, कोटीपोल मंछासदन, बडौदरा (गुजरात); प्रकाशन वर्ष -- 1992; मूल्य 31.50/- मात्र; आकार -- डिमाई पेपर बैक

प्रस्तुत कृति का प्रकाशन परमपूज्य युग दिवाकर आचार्य श्री विजयधर्मसूरिजी के श्रद्धाञ्जलि विशेषांक के रूप में हुआ है। इसके पहले भाग में परमपूज्य आचार्य श्री के सम्बन्ध में पूज्य मुनिराजों, साधुओं और अन्य व्यक्तियों के लेख और श्रद्धाञ्जलि गीत हैं। ग्रन्थ के द्वितीय भाग में श्रद्धाञ्जलियों और शोक-सन्देशों का संकलन किया गया है। तीसरे भाग में आचार्य श्री के स्वर्गवास के पश्चात् उनके निमित्त हुई श्रद्धाञ्जलि सभा का विवरण है साथ ही आचार्यश्री के निधन के बाद विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समाचारों का संकलन है। चतुर्थ विभाग में आचार्य श्री तथा विभिन्न राजनेताओं और पूज्य मुनिराजों के बीच हुए संवादों का उल्लेख है। इस विभाग में आचार्य श्री के व्यक्तित्व की महानता का हमें सम्यक् परिचय मिल जाता है। पंचम-विभाग में आचार्य श्री और तत्कालीन मुनि श्री यशोदेवसूरिजी (आचार्य यशोदेवसूरिजी) परमपूज्य आचार्य विजयमोहनजी आदि के साथ हुए पत्र-व्यवहार को प्रस्तुत किया गया है जिसमें अनेक रस-प्रद एवं प्रेरणा-प्रद प्रसंगों का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण ग्रन्थ आचार्य श्री विजयधर्मसूरिजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व को रेखांकित करता है। ग्रन्थ में अनेक चित्र भी दिये गये हैं जिससे ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ गया है। आचार्य श्री के जीवन के सम्बन्ध में यह एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है जो पुस्तकालयों के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रहणीय है।

पुस्तक -- देव, शास्त्र और गुरु; लेखक -- डॉ. सुदर्शन लाल जैन; प्रकाशक -- अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्-परिषद, वाराणसी; संस्करण -- प्रथम; प्रकाशन वर्ष -- 1994; मूल्य बीस रुपया; आकार -- डिमाई पेपर बैक

इस पुस्तक में डॉ. सुदर्शनलाल जैन ने देव, शास्त्र और गुरु के सही स्वरूप की जानकारी प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर दी है। ग्रन्थ में चार अध्याय हैं और चारों अध्यायों में विषय को शास्त्रीय प्रमाणों के माध्यम से ही स्पष्ट किया गया है। पुस्तक जैनाचार्यों और उनके द्वारा रचित प्रामाणिक रचनाओं के सम्बन्ध में सूचना देता है जिससे जैन शास्त्र परम्परा के स्वरूप को समझने में जैन तथा जैनेतर समाज को मदद मिलेगी।

विद्वान् लेखक की यह कृति अनेक दृष्टि से उपयोगी है। पुस्तक का मुद्रण निर्दोष एवं साज-सज्जा आकर्षक है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

■

पुस्तक -- अनुसंधान; संकलनकार -- मुनि शीलचन्द्र विजय, हरिवल्लभ भायाणी; प्रकाशक-- कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण निधि, अहमदाबाद; प्रकाशन वर्ष 1994; मूल्य बीस रुपये मात्र; आकार -- डिमाई पेपर बैक

प्रस्तुत पत्रिका एक प्रयोजन को लेकर प्रकाशित हो रही है और यह प्रयोजन है अप्रकाशित जैन कृतियों को प्रकाश में लाना। इसी उद्देश्य से इसमें एक ओर जैन साहित्य और प्राकृत भाषा साहित्य से सम्बन्धित शोधपरक लेखों को लिया जाता है तो दूसरी ओर अप्रकाशित कृतियों को प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत अनुसंधान पत्रिका अपने नाम की यथार्थता प्रकट कर रही है।

प्रस्तुत अंक में मुनि श्री शीलचन्द्रजी विजय के अतिरिक्त नवीनजी शाह, जयन्तकोठारी और हरिवल्लभ भयाणी के शोध लेखों का प्रकाशन हुआ है। साथ ही धर्मसूरि कृत बारगासा, सुभद्रा सती चतुष्पदिका जैसी कृतियों को प्रकाशित भी किया गया है।

यह एक प्रशंसनीय प्रयास है। इससे अप्रकाशित ऐतिहासिक जैन साहित्य को लोगों के सम्मुख लाया जा सकेगा जिससे न केवल जैन समाज अपितु सम्पूर्ण विद्या-प्रेमी लाभान्वित होंगे।

गुजराती भाषा, लिपि देवनागरी का कलेवर और मुद्रण आकर्षक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन जगत्

प्रसिद्ध साहित्यकार, कवि, भारत जैन महामण्डल के महामन्त्री एवं "जैन-जगत" मासिक पत्रिका के सम्पादक श्री चन्दनमल "चाँद" का 2 सितम्बर 1994 को आकस्मिक निधन हो गया। आपके निधन से जैन समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। आपका जन्म 28 अक्टूबर 1936 को राजस्थान के चुरू जिला स्थित श्री डूंगरगढ में हुआ था। आपने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार हेतु देश-विदेश का भ्रमण किया था। आपको "समाज गौरव" एवं "मरुधर वीर" उपाधियों से अलंकृत किया गया था।

पार्श्वनाथ शोधपीठ परिवार मृतक आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करता है।

■

प्रसिद्ध समाज सेविका, हिन्दी एवं राजस्थानी की विख्यात लेखिका एवं श्रमणोपासक की सम्पादक श्रीमती डॉ. शान्ता भानावत का 24 मई, 1994 को जयपुर में ब्रेन हेमरेज से निधन हो गया। आप जैन साहित्य के मूर्धन्य विद्वान (स्व.) डॉ. नरेन्द्र जी भानावत की पत्नी थीं। आपका जन्म 6 मार्च 1939 को छोटी सादडी में हुआ था।

आपकी लेखन एवं सम्पादन में प्रारम्भ से ही रुचि रही, इस कारण विभिन्न साहित्यिक, सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं में आपके निबन्ध एवं कहानियाँ प्रकाशित होते रहे हैं। "हिन्दी साहित्य की प्रमुख कृतियाँ और कृतिकार" आपका उल्लेखनीय समीक्षा ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त आप अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिणिक एवं धार्मिक संस्थाओं से जुड़ी थीं।

आपके निधन से न केवल जैन समाज अपितु सम्पूर्ण शिक्षा जगत एवं समाज सेवा क्षेत्र की अपूरणीय क्षति हुई है। शोधपीठ परिवार उनके प्रति अपनी गहन संवेदना प्रकट करता है।

■

उद्योगपति श्री नेमिनाथ जैन, इन्दौर गम्भीर रूप से अस्वस्थ

पूज्य सोहन लाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष, प्रमुख समाज सेवी एवं प्रसिद्ध उद्योगपति श्री नेमिनाथ जी ब्रेन हेमरेज के आघात से गम्भीर रूप से अस्वस्थ हो गये थे। प्रबन्ध समिति के उपाध्यक्ष श्री नृपराजजी जैन उनके बीमारी का समाचार सुनते ही बम्बई के वरिष्ठ चिकित्सकों को लेकर इन्दौर पहुँचे। अब धीरे-धीरे आपके स्वास्थ्य में सुधार हो रहा है।

पार्श्वनाथ शोधपीठ परिवार आपके शीघ्र स्वास्थ्य लाभ की कामना करता है।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रो. सागरमल जैनजी का अमेरिका प्रस्थान

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी के निदेशक प्रो. सागरमलजी जैन अमेरिका में रह रहे प्रवासी जैन समाज के आमन्त्रण पर 30 अगस्त 1994 को अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। आप अपने डेढ़ माह की यात्रा के दौरान अमेरिक के वाशिंगटन, न्यूयार्क, सेण्ट लुईस आदि नगरों में जैनधर्म के विभिन्न पक्षों पर व्याख्यान देगें।

आपके 10 अक्टूबर तक वापस लौटने की सम्भावना है।

■

डॉ. जितेन्द्र बी. शाह का अमेरिका प्रस्थान

शारदाबेन चिमनभाई एजुकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद के निदेशक डॉ. जितेन्द्र बी. शाह ने अमेरिकी जैन समाज के आमन्त्रण पर अगस्त के द्वितीय सप्ताह में अमेरिका के लिए प्रस्थान किया।

आपके 10 अक्टूबर तक वापस आने की सम्भावना है। लगभग दो माह की अपनी अमेरिका यात्रा में आप अमेरिका के कई शहरों में जैनधर्म के विविध पक्षों पर व्याख्यान देगें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी प्रकाशन प्रचार-योजना

जैन परम्परा के 23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की पवित्र जन्मस्थली, वाराणसी नगरी में स्थित पू. सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ ज्ञान और साधना का प्रमुख केन्द्र है। यह संस्थान जैनधर्म-दर्शन, साहित्य, इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध में शोधात्मक गतिविधियों के प्राचीनतम केन्द्रों में से एक है।

संस्थान, पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ समिति (पंजीकृत) फरीदाबाद द्वारा संचालित तथा विश्वविख्यात काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा मान्यता प्राप्त है। इसके अध्यक्ष श्री नेमिनाथजी जैन - प्रेस्टीज फूड, इन्दौर, उपाध्यक्ष श्री नृपराजजी जैन, बम्बई और मंत्री श्री भूपेन्द्रनाथ जी जैन न्यूकेम लिमिटेड, फरीदाबाद हैं।

जैन परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. सागरमल जी जैन के कुशल निर्देशन में यहाँ का शोधकार्य, प्रकाशनकार्य एवं अन्य अकादमीय गतिविधियाँ सुचारु रूप से चल रही हैं। पार्श्वनाथ शोधपीठ से अब तक पचास छात्र पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं और लगभग 90 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जो जैन-परम्परा के शीर्षस्थ विद्वानों द्वारा प्रकाशित एवं सम्पादित हैं।

हमारा साहित्य जैन परम्परा, धर्म, दर्शन, आचार, मूर्तिकला, स्थापत्य कला, साहित्य एवं संस्कृति सभी पक्षों पर सम्यक् प्रकाश डालता है। साहित्य को सर्वसुलभ बनाने के लिये पुस्तकों का मूल्य काफी कम रखा गया है। फिर भी हमने अपने साहित्य को सुलभ्य बनाने के लिये "आजीवन साहित्य सदस्यता" के नाम से एक योजना चला रखी है, जिसके द्वारा हम अपने सभी उपलब्ध प्रकाशनों — जिनका मूल्य लगभग सात हजार है, को तीन हजार रुपये में उपलब्ध कराते हैं। साथ ही साहित्य-सदस्य को भविष्य में प्रकाशित होने वाली पुस्तकें भी उपलब्ध होती रहेंगी। यहाँ से प्रकाशित होने वाली "श्रमण" त्रैमासिक पत्रिका की आजीवन सदस्यता का शुल्क पाँच सौ रु. है। इसका वार्षिक चन्दा पचास रु. है।

शोधपीठ के प्रकाशनों की विस्तृत सूची हम साथ में भेज रहे हैं, स्वेच्छानुसार पुस्तकें मँगवाकर लाभ उठावें।

पुनश्च जिज्ञासु एवं धर्म-प्रेमी श्रावक भी अपने उपयोग या साधुओं या संस्थानों को भेंट देने के लिये पुस्तकें मँगवाकर इस योजना का लाभ उठा सकते हैं।

निवेदक

(प्रो. सागरमल जैन)
निदेशक
पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

जुलाई-सितम्बर १९९४ रजि० नं० एल० ३९ फोन : ३११४६२

transform plastic ideas
into beautiful shape

NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to

Nuchem PLASTICS LTD.

Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

Edited Printed and Published by Prof. Sagar Mal Jain, Director,
Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpeeth,
Varanasi-221005

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org